र्य, गुरुकुल महाविद्या-

दि विभक्तियों के
कराया गया है
पाद्य विषयों का
ग्रन्थ सुगमता से
कारकों के स्वरूप
है। रचना शैली
के स्वरूप तथा
महानुभावों के

विभक्तिसंवाद इति प्रसिद्धा या पुस्तकेयं मम दृष्टिमागता।
प्रश्नोत्तराकारतया तया वै चित्ते मदीये शिवमाविरासीत् ॥१॥

ज्ञानयोगो विभक्तीनां संवादेनैव जायते।
कौतुकादेव बालानां चेतसि क्षिप्रमत्र तु ॥ २ ॥

जैनागमाब्धिपोतैस्तु चात्माराम मुनीश्वरैः।
उपाध्यायपदं प्राप्तैर्निरमायि तु लीलया ॥ ३ ॥

बालानामुपकारश्च बोधश्च खलु यादृशः।
अनया जायते क्षिप्रं नेदृशः पुस्तकान्तरात् ॥ ४ ॥

रञ्जयतीव चित्तं मे विस्मयं जनयत्यपि।
कृतिस्तु मुनिराजस्य लघुरूपापि दर्शने ॥ ५ ॥

ॐ

विभक्ति-संवाद

लेखक

जैनधर्म-दिवाकर, जैनागम-रत्नाकर, साहित्यरत्न,

जैन-मुनि

१००८ उपाध्याय श्रीआत्मारामजी महाराज पंजाबी

प्रकाशक

लाला सीताराम जैन

प्रो० फर्म लाला मल्लीमल संतलाल जैन

लुधियाना

प्रथमावृत्ति १०००] १९४१ [मूल्य सदुपयोग

(२४४-४१)

मुद्रक— ओम प्रकाश कपूर, श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस
जतनबर, बनारस ।
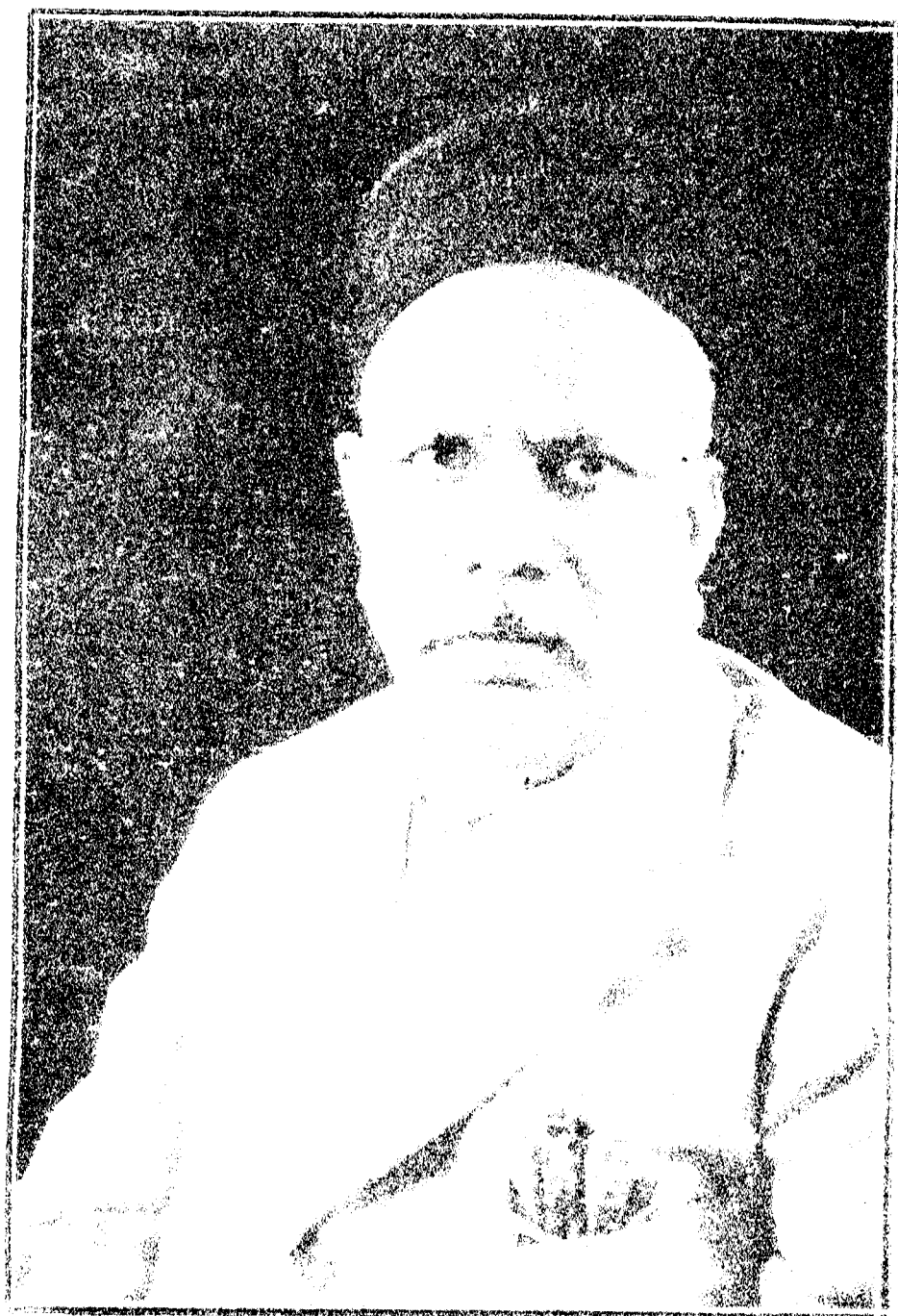
चित्रपरिचय

लुधियाना-निवासी स्वर्गीय चौधरी संतलाल जी साहब सुप्रसिद्ध चौधरी मल्लीमल जी के सुपुत्र थे। आपका जीवन अनेक सद्गुणों से अलंकृत था। सरलता तो आपका विशेष गुण था। आप हंसमुख और मृदुभाषी थे। समाजसेवा को आपके हृदय में खूब लगन थी। आपने जीवनकाल में समाजसेवा के लिए हज़ारों रुपयों का दान किया। ६२५) देकर जैनशास्त्रमाला लाहौर के सदस्य बने। लुधियाना की जैन कन्यापाठशाला, जैन मॉडल स्कूल आदि संस्थाओं का दानरूप जल से आप सदा सिञ्चन करते रहे। लुधियाना जैन बिरादरी के आप आधारस्तम्भ समझे जाते थे।

चौधरी साहब के सुयोग्य पुत्र लाला सीताराम, बाबू ओमप्रकाश और बाबू श्यामलाल धार्मिक जीवन में अपने पूज्य पिता का अनुकरण कर रहे हैं। धर्मोत्साह के कारण ही जैन बिरादरी लुधियाना ने लाला सीताराम जी को बिरादरी का चौधरी नियुक्त किया हुआ है। स्वर्गीय चौधरी जी की धर्मपत्नी श्रीमती भाग्यवती देवी अपने सुपुत्रों को धर्म कार्यों के लिए सदा प्रेरित और उत्साहित करती रहती हैं।

प्रत्येक व्यक्ति को दानादि धर्म कार्यों में इस धार्मिक परिवार का अनुकरण करना चाहिए।

रत्नचन्द्र जैन, एम. ए., न्यायतीर्थ

धन्यवाद

लाला सीताराम जैन प्रोप्राइटर फर्म लाला मल्लीमल संतलाल जैन लुधियाना अपने स्वर्गीय पिता लाला संतलाल जी की पुण्य-स्मृति में इस पुस्तक का प्रकाशन कर रहे हैं। लाला सीताराम जी भी अपने पूज्य पिता का अनुकरण करते हुये धर्म-कार्यों में बहुत उत्साह दिखाते रहते हैं। आप युवक होते हुये भी इतने निपुण हैं कि जैन बिरादरी के प्रेसिडेन्ट हैं। आपकी उदारता के लिये मैं आपका धन्यवाद करता हूँ।

रत्नचन्द्र जैन एम. ए., न्यायतीर्थ

दो शब्द

सम्वत् १९९४ वें की बात है कि रावलपिंडी का चातुर्मास करके जीरा आये हुए थे। अन्तकृतसूत्र पर टीका लिखने का कार्य समाप्त हो चुका था और कोई विशेष लेखनकार्य सामने न था।

एक दिन विचार आया कि व्याकरण का विषय बड़ा ही गम्भीर है। हजारों विद्यार्थी पढ़ते पढ़ते हताश हो जाते हैं और न इधर के रहते हैं न उधर के। पंचतंत्र नामक प्रसिद्ध नीतिग्रन्थ के रचयिता विष्णुशर्मा ने भी 'द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते' लिख कर व्याकरण का काठिन्य बहुत पहले से ही कथन कर दिया है। जब प्राचीन काल में ही यह हाल था तो आज के युग की कुछ पूछिये ही नहीं। विद्यार्थी व्याकरण से इस प्रकार डर कर भागते हैं, जैसे सिंह से मृग। व्याकरण में भी कारक का विषय बड़ा ही गहन है। विभक्तियों की उलझन में उलझा हुआ विद्यार्थी होशोहवास भूल जाता है। विभक्तियाँ कौन कौन सी हैं? कौन किस उदाहरण में प्रयुक्त होती है? कौन किस की अपवाद है? कौन कहाँ नित्य होती है और विकल्प कहाँ? इत्यादि प्रश्नों ने विभक्ति प्रकरण को बहुत जटिल बना रक्खा है। तभी तो पण्डितवर्ग में एक कहावत चल रही है कि—'कारक बड़ा कठोर कण्ठ नहीं होवे।'

अतएव विचार किया कि विभक्ति प्रकरण के सम्बन्ध में कुछ सरल और स्फुट भाषा में ऐसी पुस्तक लिखनी चाहिए, जिससे विद्यार्थीवर्ग की कठिनाइयाँ कम हों और वे विभक्ति-सम्बन्धी आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर सकें। उसी विचार का परिणाम प्रस्तुत पुस्तक है।

व्याकरण का विषय कठिन होता है। कितनी ही सरलता हो, फिर भी कठिनता अवश्य रहती ही है। तथापि जहाँ तक हो सका, सरलता की ओर ध्यान रक्खा गया है। भगवान् महावीर के सामने विभक्तियों का पारस्परिक संवाद कुछ मनोरंजकता को लिए हुए है, जो कथा के वादविवाद के ढंग पर है। अतः पढ़नेवाले को अरुचि नहीं उत्पन्न होने देता। ज्यों-ज्यों पाठक आगे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसकी जिज्ञासावृत्ति अधिकाधिक तीव्र होती जाती है, और वह मनोरंजन के साथ-साथ विभक्ति सम्बन्धी ज्ञान भी पा लेता है।

प्रारंभ से ही मेरी श्रद्धा शाकटायन व्याकरण पर रही है। शाकटायन मुनि एक जैनाचार्य थे, जो व्याकरणशास्त्र के दिग्गज विद्वान् थे। महर्षि पाणिनि ने भी अपनी अष्टाध्यायी में 'लङः शाकटायनस्यैव' ३।४।१११ तथा 'व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य' ८।३।१८ इत्यादि अनेक सूत्रों में शाकटायनाचार्य का बड़े आदर के साथ उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद और यजुर्वेद के प्रातिशाख्य में तथा यास्काचार्य के निरुक्त में भी शाकटायनाचार्य का नाम मिलता है। महाभाष्य में भी महर्षि पतञ्जलि ने 'उणादयो बहुलम्' सूत्र की व्याख्या में यह माना है कि शाकटायनाचार्य उणादि को धातुज मानते हैं—'शाकटायन आह धातुजं नाम इति।' कहने का भाव यह है कि शाकटायन व्याकरण काफी पुराना है और इसकी आधुनिक संस्कृत व्याकरणों पर काफी गहरी छाप है। अस्तु, कुछ प्राचीनता के नाते अथवा अनुराग के नाते विभक्ति संवाद में शाकटायन को ही आधार-भूमि बनाया है। शाकटायन पर भी अमोघवृत्ति, चिन्तामणि, प्रक्रियासंग्रह, रूपसिद्धि आदि अनेक टीकाएँ हैं। सरलता की दृष्टि से चिन्तामणि टीका अधिक उपयुक्त है। अतः सूत्रों के उल्लेख के समय अधिकतर चिन्तामणि को ही सामने रक्खा है। बहुत से स्थलों पर अन्य टीकाओं का भी अवलम्बन किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक का यह प्रयोजन नहीं कि यह आपको विभक्ति सम्बन्धी पूर्ण ज्ञान करा दे। पूरी जानकारी के लिए तो प्राचीन संस्कृत व्याकरणों का अध्ययन करना ही आवश्यक है। यहाँ तो संक्षेप में ही दिग्दर्शन कराया गया है। अतः विभक्तिसम्बन्धी कुछ ऐसे अटपटे विधानों को, जो बहुत ही कठिन तथा ग्रन्थिल हैं, छोड़ दिया है। यदि आवश्यकता हुई और भविष्य में पुस्तक अधिक आदर से देखी गई तो अगले संस्करण में उन्हें भी स्थान दे दिया जायगा।

एक प्रश्न है, जिसे स्पष्ट कर देना आवश्यक है। वह यह कि पुस्तक में भगवान् महावीर का चम्पा पधारना, और विभक्तियों से वार्तालाप करना, कहाँ तक ठीक है? ऐसा कहीं उल्लेख तो नहीं मिलता। फिर यह नयी कल्पना क्यों?

कल्पना नयी नहीं है, बहुत पुरानी है। किसी भी विषय को अच्छी तरह समझाने के लिए कल्पना का आश्रय लिया जाता है और इस प्रकार के अद्भुत संवादों का आविष्कार कर लिया जाता है। ज्ञाताधर्मकथासूत्र में कूर्म आदि के उदाहरण ऐसी ही शैली से लिखे गए हैं। अतएव समवायाङ्ग सूत्र में ज्ञाताधर्मकथासूत्र का विवरण करते हुए लिखा है कि—'ज्ञाता में दोनों ही प्रकार के कथानक हैं, चरित्र और कल्पित।'[1] इससे सिद्ध है कि—स्वयं भगवान् महावीर ने भी रोचकशैली के लिए कल्पित कथाओं का अवलम्बन किया है।

अनुयोगद्वारसूत्र में तो बड़े विस्तार के साथ इस सम्बन्ध में चर्चा उठाई गई है। उपमा के चार भेद बताते हुए तृतीय भेद में कल्पित उपमाओं का उल्लेख बहुत अच्छी तरह किया है। जिज्ञासुओं की जानकारी के लिए अनुयोगद्वारासूत्र का वह समस्त पाठ यहाँ बता देना उपयुक्त है।

---

१ ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—चरित्ताय कप्पियाय।

—समवायांगद्वादशाङ्गाधिकार

ओवम्मसंखा चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—अत्थि संतयं संतएणं उवमिज्जइ। अत्थि संतयं असंतएणं उवमिज्जइ। अत्थि असंतयं संतएणं उवमिज्जइ। अत्थि असंतयं असंतएणं उवमिज्जइ।

तत्थ संतयं संतएणं उवमिज्जइ, तंजहा—संता अरिहंता संतएहिं पुरवरेहिं संतएहिं कवाडेहिं, संतएहिं वच्छेहिं उवमिज्जइ। तंजहा—

पुरवरकवाडवच्छा, फलिहभुया दुंदुहित्थणियघोसा।
सिरिवच्छंकियवच्छा, सव्वे वि जिणा चउव्वीसं॥

संतयं असंतएणं उवमिज्जइ, जहा—संताइं नेरइयतिरिक्खजोणियमणुस्सदेवाणं आयुआइं असंतएहिं पलिओवमसागरोवमेहिं उवमिज्जन्ति।

असंतयं संतएणं उवमिज्जइ, तंजहा—

परिजूरियपेरंतं चलंतबिंटं पडन्तनिच्छीरं।
पत्तं व वसणपत्तं, कालप्पत्तं भणइ गाहं॥
जह तुब्भे तह अम्हे, तुम्हेऽवि य होहिहा जहा अम्हे।
अप्पाहेइ पडंतं, पंडुयपत्तं किसलयाणं॥
ण वि अत्थि णवि अ होही, उल्लावो किसल पंडुपत्ताणं।
उवमा खलु एस कया भवियजणविबोहणट्ठाए॥

असंतयं असंतएहिं उवमिज्जइ, जहा खरविसाणं तहा ससविसाणं। से तं ओवम्मसंखा।

—अनुयोगद्वार, प्रमाणद्वार

आगम साहित्य में ही नहीं, पीछे के आचार्यों ने भी इस शैली को चालू रक्खा और मनोरंजक ग्रन्थों के द्वारा मनोरंजन के साथ साथ शिक्षा का विस्तार किया। आचार्य सिद्धर्षि का उपमितिभवप्रपंचकथा नामक

विशालकाय ग्रन्थ इस शैली का सबसे बड़ा चमत्कारी ग्रन्थ है। आचार्य समन्तभद्र भी आप्तमीमांसा में इसी शैली की ओर झुके हैं। उन्होंने तो कल्पना के क्षेत्र में भगवान् की ओर का प्रश्न भी पा लिया है और उसी पर समूचा ग्रंथ लिख गए हैं। अस्तु, अपना यह प्रयत्न भी उसी दिशा में होने के कारण कुछ नया नहीं है। मनोरंजन की शैली के लिए यह पद्धति कल्पित की गई है।

यह पहला ही प्रयास है कि व्याकरण को इस शैली पर उतारा गया है। संभव है, इसमें कुछ भ्रान्तियाँ रह गई हों। अतएव विद्वान् सज्जन पुस्तक के सम्बन्ध में जो भी सूचनाएँ देंगे, उन पर सादर विचार किया जायगा तथा आवश्यक संशोधन भी कर दिया जायगा।

हाँ, एक बात और कहनी है। पुस्तक चार वर्ष से लिखी पड़ी थी परन्तु इसका परिमार्जन न हो सका था। बिना परिमार्जन के मुद्रण का सौभाग्य भी न मिल सका। हर्ष है कि मेरे सुयोग्य शिष्य पं० श्रीहेमचन्द्रजी तथा यू० पी० प्रान्तीय पूज्य श्री पृथ्वीचन्द्रजी महाराज के सुयोग्य शिष्य कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्द्रजी के सत्प्रयत्न से परिमार्जन का कार्य भी बड़े सुन्दर ढंग से हो गया, एक प्रकार से पुस्तक का नया संस्करण सा हो गया। अतः उक्त दोनों विद्वान् मुनियों का सहयोग भी प्रस्तुत पुस्तक के साथ सधन्यवाद सम्बद्ध है।

इस पुस्तक के प्रकाशन का सम्पूर्ण भार श्रीरत्नचन्द्रजी जैन एम० ए०, न्यायतीर्थ के ऊपर रहा है। इनके प्रयत्न का यह सुफल है कि यह पुस्तिका इस सुन्दर रूप में प्रकाशित हो रही है।

लुधियाना
भाद्रपद शुक्ला पञ्चमी
१९९५

उपाध्याय आत्माराम

विभक्ति-संवाद

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो वीरं बुधाः संश्रिताः ;
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो वीराय नित्यं नमः ।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं वीरस्य घोरं तपो ;
वीरे श्रीधृतिकीर्तिकान्तिनिचयो हे वीर ! भद्रं दिश ॥

नमोत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स

पूर्वरङ्ग

सावन का महीना है। आकाश में चारों ओर घनघोर घटाएँ उमड़ रही हैं। मेघ की गम्भीर गर्जना से दसों दिशाएँ मुखरित हो रही हैं। शीतल, मन्द पवन के झोंके आ रहे हैं। ग्रीष्म ऋतु में सूर्य के प्रचण्ड ताप से उत्तप्त भूमि अविच्छिन्न जलधारा के द्वारा शान्त हो चुकी है। प्रकृति-नटी वर्षा ऋतु का नवीन परिधान पहन कर विश्व के रङ्गमञ्च पर एक नया खेल खेलने में प्रवृत्त है!

चम्पा नगरी का पूर्णभद्र-उद्यान आज अभिनव सौन्दर्य से सुशोभित है। प्रत्येक वृक्ष अपूर्व शोभा को धारण किए हुए है। वैद्यराज मेघ ने जलधारा से सिंचन कर मानों वृक्षों का काया-

कल्प ही कर दिया है। स्थान-स्थान पर फुलवारियाँ खिल रही हैं। पवन फूलों की मधुर एवं हृदयग्राही सुगन्ध को चारों ओर बिखेर रहा है। आम्रवन फलों से लदे हुए हैं। जहाँ तहाँ मयूर मस्त होकर नृत्य कर रहे हैं और अपने श्रुति मधुर केकारव के द्वारा पूर्णभद्र वन को प्रतिध्वनित कर रहे हैं। वनश्री वनविहार के प्रेमी यात्रियों के लिए प्रत्येक प्रकार का आकर्षण सजाए विराज रही है।

अहा कितना महान् आनन्द है! जहाँ ऊपर आकाशलोक में महामेघ भौतिक-अमृत (जल) की वर्षा कर रहा है, वहाँ भूतल पर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी आध्यात्मिक धर्मामृत की वर्षा कर रहे हैं। भगवान् के समवसरण से आज पूर्णभद्र भी अपने पूर्णभद्र नाम को वास्तविक रूप में चरितार्थ कर रहा है। पूर्णभद्र वन के ठीक मध्य भाग में अशोक वृक्ष है। उसके नीचे विशाल स्फटिक शिला पड़ी हुई है। उस पर तप्त स्वर्ण-मूर्ति के समान भगवान् महावीर पद्मासन लगाए विराजमान हैं। मुख दिव्य प्रभामण्डल से आलोकित है।

भगवान् महावीर के हजारों भिक्षु पूर्णभद्र वन में इधर-उधर वृक्षों के नीचे बैठे हुए हैं। कितने ही आत्म-समाधि में तल्लीन हैं। कितने ही स्वाध्याय-ध्यान में मग्न हैं। कितने ही धर्म-चर्चा में संलग्न हैं। कितने ही धर्मोपदेश देने में व्यस्त हैं। कितने ही प्रश्नोत्तर के द्वारा गूढ़ सिद्धान्तों की समालोचना में दत्तचित्त हैं, मानों पूर्णभद्र वन की भूमि का प्रत्येक कण त्याग और तपस्या के आलोक से जगमगा रहा है।

स्फटिक शिला पर विराजमान भगवान् महावीर ने एकान्त

पाकर साधु तथा साध्वियों को बुलाया और कहा कि—"हे आर्यो ! आज मैं तुम्हें वचन-विभक्तियों के सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य बातें बताना चाहता हूँ। जब तक मनुष्य वचन-विभक्तियों का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं कर लेता तब तक वह अपनी भाषण शक्ति में शब्द-सौन्दर्य तथा भाव-गम्भीरता पैदा नहीं कर सकता। कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि विभक्ति सम्बन्धी अज्ञानता के कारण वक्ता और श्रोता दोनों ही अर्थ का अनर्थ भी कर डालते हैं। अतएव अहिंसा तथा सत्य के उपासकों का कर्त्तव्य है कि वे विभक्ति सम्बन्धी ज्ञान अवश्य प्राप्त करें। अस्तु, मैं इस सम्बन्ध में जो कुछ भी कहूँ तुम उसे ध्यानपूर्वक सुनो।"

साधु तथा साध्वियों ने भगवान् के श्रीमुख से ज्यों ही यह सुना त्यों ही सब के सब हर्ष से प्रफुल्लित हो गए। जिस प्रकार मेघ की गर्जना सुनकर मयूर नाच उठता है, उसी प्रकार उन जिज्ञासुओं के हृदय भी भगवान् के उक्त वचन सुनकर नाच उठे। साधु तथा साध्वियों ने भगवान् के चरण-कमलों में विधिपूर्वक वन्दना (नमस्कार) की, और सब यथास्थान सावधान होकर बैठ गए। प्रत्येक के मस्तिष्क में यही एक कल्पना चक्कर काट रही थी कि अब भगवान् न जाने कौनसा अभिनव ज्ञानोपदेश सुनाएँगे। विभक्ति-ज्ञान के सम्बन्ध में हमें न जाने क्या अभिनव सन्देश मिलेगा।

जब श्रमण भगवान् महावीर वचन-विभक्तियों का वर्णन करने लगे तो सात मुनि एकएक विभक्ति का पक्ष लेकर भगवान् से प्रार्थना करने लगे—'पहले मेरा वर्णन होना

चाहिए ।' सातों ही विभक्तियाँ अपने अपने आग्रह पर स्थित थीं, और प्रत्येक अपना वर्णन ही सर्व प्रथम करवाना चाहती थीं ।

भगवान् ने कहा कि आग्रह का कोई कारण नहीं है । संसार में जो कुछ भी पूजा प्रतिष्ठा है, वह सब गुण की ही है । अतः तुम सातों ही एक एक करके अपने गुण बतलाओ, अपनी विशेषता दिखलाओ ।

प्रथमा विभक्ति (कर्ता)

भगवान् की आज्ञा पाकर सर्व प्रथम प्रथमा विभक्ति ने अपनी विशेषताएँ बतलानी शुरू कीं। उसने कहा—भगवन्! मुझ में सब से अधिक विशेषताएँ हैं, अत: पहले मेरी विशेषताएँ सुन लें और बाद में जो कुछ भी निर्णय देना चाहें, देवें।

भगवन्! मैं सब विभक्तियों से बढ़ चढ़ कर हूँ। विद्वान् लोग मुझे कर्ता कहते हैं। आप जानते ही हैं कि संसार में कर्ता का कितना महत्त्व है। मैं पूर्णतया स्वतंत्र[1] हूँ, मुझपर किसी का भी अधिकार नहीं। अन्य सब विभक्तियाँ मेरे अधीन हैं, मैं सब पर शासन करती हूँ।

जितना भी साहित्य है, मैं ही सब में प्रमुख हूँ। गद्य और पद्य जितने भी काव्य हैं, सब में विद्वान् लोग मुझे ही सर्व प्रथम ढूँढ़ते हैं कि इसमें कर्ता कौन है? जब मैं उन्हें प्राप्त हो जाती

---

१ 'स्वतन्त्रः कर्ता'

—शाकटायनप्रक्रियासंग्रह पृ० ९७।

हूँ तो हर्ष का पार नहीं रहता। अर्थावबोध की सब कठिनाइयाँ हल हो जाती हैं।

प्रत्येक शब्द का निर्देश पहले कर्ता में ही होता है। कर्ता ही सब विषयों का अनुभव करनेवाला है। मेरा आदेश ही सबको मान्य रखना होता है। मेरे बिना अन्य सब कारक शून्य से दृष्टि-गोचर होते हैं।

कर्ता के होने पर ही अन्य सब क्रियाएँ सफल हो सकती हैं। यदि प्रारंभ में एक (१) का अंक हो, तभी अन्य शून्य वृद्धि पाते हैं, सफल होते हैं, अर्थ का बोध कराते हैं, अन्यथा नहीं। आप देखते ही हैं कि १०, १००, १०००, १०००० आदि अङ्कों में एक के अस्तित्व से शून्य किस प्रकार मूल्य बढ़ा रहे हैं। यही दशा मेरी है। मेरे अस्तित्व से ही अन्य क्रियाएँ मूल्य पाती हैं।

तिङन्त में शप्[२] प्रत्यय की बड़ी महत्ता है। परन्तु आप जानते हैं, वह भी तो मेरे ही अर्थ का बोध कराता है। यदि मैं न हूँ और मेरा कर्तृत्व स्वीकृत न किया जाय तो फिर शप् कहाँ लगे? धातुओं से बननेवाले कृदन्त शब्दों में भी मैं प्रभुत्व रखती हूँ।

साहित्य में सम्बोधन[३] का बहुत महत्त्व है। सम्बोधन के

---

२ कर्तरि शप् ॥ ३।१।६८ ॥

धातोः कर्तरि वर्तमाने श्लेले परतः मध्ये शप् प्रत्ययो भवति। धारयः।

३ आमन्त्र्ये ॥ २।३।४८ ॥

आमन्त्र्यमाणेऽर्थे वर्तमानात् शब्दादेकद्विबहुषु स्वौजसो भवन्ति। हे देवदत्त! हे देवदत्तौ! हे देवदत्ताः!

बिना तो वार्तालाप भी नहीं हो सकता। वह सम्बोधन भी तो मुझ में ही प्रयुक्त होता है। सम्बोधन होने का गौरव आज तक किसी भी अन्य द्वितीयादि विभक्ति को नहीं मिला।

संस्कृत साहित्य में तीन[४] वचन होते हैं—एकवचन, द्विवचन और बहुवचन। सर्व प्रथम व्याकरण में तीनों वचन प्रथमा विभक्ति में ही लगाए जाते हैं। सु, औ, जस् प्रत्यय प्राप्त करने का गौरव मुझे ही मिला है।

भगवन्! मेरे रूप भी कितने मनोहर होते हैं। धर्म शब्द को ही लीजिए। जब वैयाकरण 'धर्मः धर्मौ धर्माः, सुखयति सुखयतः सुखयन्ति' वाक्य का प्रयोग करते हैं तब कितना मधुर सन्देश प्राप्त होता है।

जिनराज! आपने अपने श्रीमुख से त्रिविध[५] धर्म का उपदेश दिया है,—'दर्शन, ज्ञान, चारित्र। मोक्ष का वास्तविक मार्ग यही त्रिविध धर्म है।' मुझे हर्ष है कि आपने त्रिविध धर्म का उपदेश करते हुए मेरा ही उपयोग किया है। व्याकरण के साथ जब आप धर्मोपदेश का समन्वय करते हैं, तो ठीक अर्थ निकल

---

४ एकद्विबह्वौ ॥१।३।१८॥

एकत्वादिसंख्येऽर्थे वर्तमानाच्छब्दाद्यथासंख्यमेकद्विबहुषु सु औ जस् प्रत्यया भवन्ति। पुरुषः। पुरुषौ। पुरुषाः।

५ नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥ ३० ॥

— उत्तराध्ययन अध्य० २८।

तिविहा आराहणा पण्णत्ता, तंजहा—नाणाराहणा, दंसणाराहणा, चरित्ताराहणा। भग० श० ८ उ० १० सू० ३५५ ॥

आता है कि सम्यग्दर्शनरूप धर्म सुख देनेवाला है, फिर सम्यग्ज्ञानरूप धर्म सुख देनेवाला है। फिर सम्यक्चारित्ररूप धर्म सुख देनेवाला है। जब तीनों धर्म एकत्र हो जाते हैं तब आत्मा को पूर्णतया अजर अमर सुख की प्राप्ति होती है। इसीलिए तो वैयाकरण कहते हैं कि—'धर्माः सुखयन्ति।'

भगवन्! एक बात और भी है। शब्दों के योग[६] में अर्थात् सम्बन्ध में सबसे पहले मैंने ही शब्दों का निर्देश किया है। मेरे बिना शब्दों की गति नहीं।

प्रत्येक क्रिया का आविर्भाव मेरे ही उद्योग से होता है। शुभाशुभ कर्मों का उत्पादक भी मैं ही हूँ क्योंकि मैं कर्ता हूँ। मेरी प्रधानता के आगे सब कारक नतमस्तक हो जाते हैं। अतः प्रभो! सर्व प्रथम मेरे ही सम्बन्ध में कहने की कृपा करें!

---

६ योगे ॥१।३।९३॥
यदित ऊर्ध्वमुपक्रामयिष्यामः तत्सन्नियोगे भवति।

द्वितीया विभक्ति (कर्म)

प्रथमा विभक्ति जब अपना वक्तव्य समाप्त कर चुकी और अपनी श्रेष्ठता बता चुकी, तब द्वितीया विभक्ति ने प्रभु के चरणों में अपना निवेदन करना आरंभ किया।

भगवन्! मैं द्वितीया विभक्ति हूँ। मेरा गौरव किसी भी प्रकार कम नहीं। कर्म की अधिष्ठात्री मैं हूँ। कर्ता मेरे ही अधीन रहता है। मैंने कर्ता को आबद्ध किया हुआ है। यदि मैं कर्ता के समीप न रहूँ तो कर्ता सर्वथा अवीर्य[7] हो जाता है। क्रिया की अपेक्षा से ही कर्ता सवीर्य है।

नाथ! प्रथमा विभक्ति ने जो अपने कर्तृत्व का गुणगान किया है, वह सब व्यर्थ है। मेरे बिना तो कर्ता शून्यवत् है।

---

७ जे ते सेलेसी पडिवण्णया ते णं लद्धिवीरिएणं सवीरिया, करण-वीरिएणं अवीरिया। भग० श० १ उ० ८।

वह किसी भी क्रिया में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। मेरा प्रभुत्व तो कर्ता को भी मानना पड़ता है।

संसार की जो कुछ भी यह रचना नज़र आ रही है, सब मेरी ही है। मेरा अस्तित्व प्रत्येक चैतन्य पर प्रतिबिम्बित हो रहा है। भगवन्! आपका यह विश्वविमोहन ऐश्वर्य और परोपकार भी तो मेरे ही द्वारा है। यह सब कुछ वैभव नाम-कर्म की शुभ प्रकृतियों के उदय से है और कर्म का अधिष्ठातृत्व, आप जानते ही हैं, मुझे ही मिला हुआ है।

कर्म[८] के बोधक तीन प्रत्यय हैं—'अम्, औट् और शस्।' ये तीनों प्रत्यय मुझ में ही लगते हैं। संस्कृत आदि भाषाओं में उक्त तीनों वचनों का कितना महान् गौरव है यह किसी से छिपा हुआ नहीं है।

मेरे रूप भी कितने सुन्दर तथा भावपूर्ण हैं—धर्मम्, धर्मौ, धर्मान्। उक्त तीनों रूप कर्ता को शिक्षा देते हैं कि—हे कर्तः! यदि तू सुखी बनना चाहता है तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप त्रिविध धर्म का सम्यक्तया आचरण कर। अन्यथा तू संसार अटवी से किसी तरह भी पार न हो सकेगा।

भगवन्! मेरा क्षेत्र बहुत विशाल है। हा[९], धिक्, समया,

---

८ कर्मणि ॥ १।३।१०५ ॥

क्रियते इति कर्म तन्निर्वर्त्यं विकार्यं प्राप्यं, तस्मिन्नप्रधानेऽर्थे वर्तमानादमौट्शसो भवन्ति।

९ हा-धिक्-समया-निकषोपर्युपर्यध्यध्यधोऽधोऽत्यन्तरान्तरेण तस्पर्यभिसर्वोभयैश्चाप्रधानेऽमौट्शस् ॥ १।३।१०० ॥

हाधिगादिभिस्तसन्तैश्च पर्यादिभिरव्ययैर्योगेऽप्रधानेऽर्थे वर्तमानादेक-

निकषा, उपर्युपरि, अध्यधि, अधोऽधः, अति, अन्तरा, अन्तरेण, परितः, अभितः, सर्वतः, उभयतः आदि शब्दों के योग में भी मैं ही (द्वितीया) होती हूँ। इनके साथ मेरा नैरन्तर्य्य सम्बन्ध है।

हेतु[10] आदि अर्थों में भी अनु के योग में मेरा पूर्ण अधिकार है। अर्थात् हेतु—कारण के द्योत्य होने पर अनु उपसर्ग के साथ मैं होती हूँ।

अनु[11] और उप उपसर्गों के योग में उत्कृष्ट अर्थ में वर्तमान शब्द से भी मैं हुआ करती हूँ।

द्विबहुषु अमौट्शसः प्रत्यया भवन्ति। हा देवदत्तं वर्धते व्याधिः। धिग् देवदत्तमयशः प्रवृद्धम्। समया पर्वतं नदी। निकषा पर्वतं वनम्। उपर्युपरि ग्रामं ग्रामाः। अधोऽधो नरकं नरकाः। अति वृद्धन्तु कुरून् महद्बलम्। अन्तरा निषधं नीलं च विदेहाः। अन्तरेण नीलं निषधं च विदेहाः। अन्तरेण पुरुषकारं न किञ्चित्। परितो ग्रामं, सर्वतो ग्रामं, उभयतो ग्रामं वनानि। अप्रधान इति किम्? प्रधाने न भवति। चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। 'बुभुक्षितं न प्रतिभाति किंचित्।'

१० टार्थेऽनुना॥ १।२।१०३।

हेत्वादि टार्थः तस्मिन्ननु इत्यनेन योगेऽप्रधानेऽर्थे एकद्विबहुषु अमौट्शसो भवन्ति। शान्तिपट्टकप्रसरणमनु प्रावर्षत् पर्जन्यः। तेन हेतुनेत्यर्थः। नदीमनुवसिता सेना।

११ उत्कृष्टेऽनूपेन॥ १।२।१०४॥

अनु उप इत्येताभ्यां युक्तेऽप्रधाने उत्कृष्टेऽधिकेऽर्थे वर्तमानादेकद्विबहुषु अमौट्शसो भवन्ति। अनु शाकटायनं वैयाकरणाः। उप विशेषवादिनं कवयः। तस्माद्धीना इत्यर्थः।

स्मृत्यर्थक[१२] स्मरति और अध्येति धातुओं के तथा दयते और ईष्टे धातुओं के योग में भी मैं हो जाती हूँ। साथ ही मेरी इतनी उदारता है कि मैं अपना स्थान षष्ठी को भी दे देती हूँ।

भगवन्! मैं अपने विषय कर्म तक ही सीमित नहीं हूँ। मेरी दौड़ बहुत दूर तक है। आधार, जो सातवीं विभक्ति है, वह भी मेरा उपासक है। अर्थात् कभी कभी मैं आधार में भी प्रयुक्त हो जाती हूँ। कब? अधि[१३] उपसर्ग पूर्वक शीङ्, स्था और आस् धातु का आधार भी कर्म में बदल जाता है। तथा अनु[१४], उप, अधि, आङ्, उपसर्गपूर्वक वसति का आधार भी कर्म ही होता है।

जिनेश्वर देव! संसार में काल और मार्ग की व्याप्ति ही श्रेष्ठ मानी जाती है। बिना व्याप्ति-नैरन्तर्य के कोई भी कार्य

---

१२ स्मृत्यर्थदयीशां कर्म ॥ १।३।१११ ॥

स्मरणार्थानां धातूनां दयितेरीष्टेश्च यत्कर्म तत्कर्म वा भवति। मातुः स्मरति, मातरं स्मरति। मातुरध्येति, मातरमध्येति। सर्पिर्दयते, सर्पिषो दयते। लोकानामीष्टे, लोकानीष्टे।

१३ शीङ्स्थासोऽधेराधारः ॥ १।३।१२२ ॥

अधिपूर्वाणां शीङ् स्था आस् इत्येतेषां य आधारः क्रियाश्रयस्य कर्तुः कर्मणो वा धारणात् अधिकरणं तत् कर्म भवति। ग्राममधिशेते। ग्राममधितिष्ठति। ग्राममध्यास्ते। अधेरिति किम्? ग्रामे शेते। पर्वते तिष्ठति। नद्यामास्ते।

१४ वसोऽनूपाध्याङः ॥ १।३।१२३ ॥

अनु उप अधि आङ् इत्येतत्पूर्वस्य वसतेर्य आधारः तत्कर्म भवति। ग्राममनुवसति। ग्राममुपवसति। ग्राममधिवसति। ग्राममावसति।

सिद्ध नहीं होता। हर्ष है कि काल और मार्ग[१५] की व्याप्ति में—निरन्तरता में भी मेरा ही प्रयोग किया जाता है।

भगवन्! प्रथमा विभक्ति ने जो अपने कर्तृत्व का गुण गान किया है, वह भी व्यर्थ है। मेरे समक्ष कर्ता की भी कोई प्रतिष्ठा नहीं। मैं तो कर्ता को भी कर्म में बदल डालती हूँ। बात यह है कि अकर्मक[१६] धातुओं का, गमनार्थक, ज्ञानार्थक और भोजनार्थक धातुओं का, शब्दकर्मक धातुओं का, दृश् धातु का कर्ता प्रेरणा में आकर कर्म बन जाता है।

---

१५ कालाध्वनोर्व्याप्तौ ॥ १।२।१२६ ॥

काले अध्वनि चाप्रधाने वर्तमानाद् व्याप्तौ अमौट्शसो भवन्ति। मासं गुडापूपाः। मासमधीते। क्रोशं कुटिला नदी। व्याप्ताविति किम्? मासेऽधीते। मासस्याधीते। क्रोशेऽधीते। क्रोशस्याधीते।

१६ नित्याकर्मकगमिज्ञाद्यर्थशब्दकर्मदृशोऽखादादिक्रन्दशब्दायह्वः ॥ १।२।११८ ॥

नित्यमकर्मकेभ्यः गमेर्जानातेरदेश्चार्थो येषां तेभ्यः शब्दकर्मभ्यः शब्दनक्रियेभ्यः शब्दार्थेभ्यः दृशित्येतस्माच्च धातोर्यो णिस्तस्य कर्म नित्यं कर्म भवति खादादि क्रन्द शब्दायह्व इत्येतान् वर्जयित्वा। आसयति देवदत्तम्। शाययति देवदत्तम्। गमयति माणवकं ग्रामम्। यापयति माणवकं ग्रामम्। ज्ञापयति माणवकं धर्मम्। बोधयति माणवकं धर्मम्। भोजयति माणवकमोदनम्। आशयति माणवकमोदनम्। शब्दनक्रियेभ्यः—विलापयति देवदत्तं पुत्रम्। आभाषयति देवदत्तं गुरुम्। शब्दार्थेभ्यः—श्रावयति देवदत्तं शास्त्रम्। उपलम्भयति देवदत्तं विद्याम्। दृश्—दर्शयति रूपतर्कं कार्षापणम्।

दीनबन्धो ! आप सर्वज्ञ हैं, आप से क्या छिपा हुआ है ? फिर भी मैंने अपनी जो विशेषताएँ थीं; आपके सामने निवेदन कर दी हैं। अतः प्रभो ! अब तो आप सब से पहले मेरे ही सम्बन्ध में अपनी सुमधुर वाणी का प्रकाश करें।

तृतीया विभक्ति (करण)

जब द्वितीया विभक्ति अपना वक्तव्य समाप्त कर चुकी और अपनी प्रशंसा के गीत गा चुकी तब तृतीया विभक्ति ने प्रभु के चरण कमलों में नमस्कार कर उनकी सेवा में अपना यह निवेदन किया।

भगवन्! अपने मुख से अपनी प्रशंसा करना सभ्यता नहीं है। द्वितीया विभक्ति ने व्यर्थ ही अपनी डींग हाँकी है। मैं इस प्रकार अपनी असभ्यता प्रगट नहीं करना चाहती। हाँ, मेरी जो विशेषताएँ हैं, वे आप के समक्ष रखती हूँ।

सर्वज्ञ देव! मैं करण हूँ। करण का अर्थ होता है— 'क्रियतेऽनेन तत्करणम्' जिससे कार्य किया जाय वह करण है। कर्ता की प्रत्येक क्रिया में मैं ही सहायक बनती हूँ। यदि मैं न होऊँ तो कर्ता कुछ भी नहीं कर सकता। मेरे द्वारा ही कर्ता कर्म की निष्पत्ति करता है। 'तक्षकः कुठारेण काष्ठं छिनत्ति'—क्या

कभी आज तक किसी ने बिना कुठार के बढ़ई द्वारा काष्ठ में छिदि-क्रिया देखी है ? कभी नहीं। अतः मैं सब से महान् हूँ।

करण में ही नहीं, मैं हेतु में भी चलती हूँ। फलसाधन योग्य पदार्थ हेतु होता है। व्याकरण में हेतु का बहुत मान है। धनेन कुलम्, विद्यया यशः इत्यादि लाखों प्रयोग हेतु के बने हुए हैं। अस्तु, सुप्रसिद्ध हेतु प्रयोगों में भी मेरा ही प्रयोग किया जाता है।

करण और हेतु ही नहीं, कर्ता में भी मेरा प्रयोग होता है। प्रथमा विभक्ति ने कर्ता पर जो एक मात्र अपना ही अधिकार बतलाया है, वह असत्य है। कर्ता और कर्म दो वस्तु हैं। जब कर्ता मुख्य होता है तब कर्ता में प्रथमा विभक्ति और कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है। और जब कर्ता गौण होता है, तब कर्ता में तृतीया विभक्ति और कर्म में प्रथमा विभक्ति हो जाती है। गुरुदेव ! देखा मेरा प्रभुत्व ! जब मैं कर्ता पर अपना अधिकार कर लेती हूँ तो प्रथमा को अपना स्थान छोड़ना पड़ता है और कर्म का आश्रय लेना होता है, जैसे कि 'जिनदत्तेन भोजनं कृतम्' आदि प्रयोगों में।

करण, हेतु और कर्ता ही नहीं, मैं इत्थंभूत लक्षण में भी रहती हूँ। इत्थंभूतलक्षण का लक्षण है—इमं कञ्चित् प्रकारमापन्नः इत्थंभूतः, स लक्ष्यते येन तदित्थंभूतलक्षणम्।' जो किसी प्रकार को—विशेषण को प्राप्त हो, वह इत्थंभूत होता है। इत्थंभूत जिससे लक्षित हो, वह इत्थंभूत लक्षण है। जैसे कि—'कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीत्' इस प्रयोग में छात्र इत्थंभूत है, और वह कमण्डलु से लक्षित है, अतः कमण्डलु हुआ इत्थंभूतलक्षण।

भगवन् ! आपके पास अधिक कुछ कहना मूर्खता है। आप तो ज्ञान के साक्षात् सूर्य हैं। संक्षेप में कहना इतना ही है कि करण,[१७] हेतु, कर्ता और इत्थंभूतलक्षण में मैं (तृतीया) प्रयुक्त होती हूँ।

आत्मा की पवित्रता के लिए संसार बहुत उत्कण्ठित है परन्तु वह मिले कैसे ? जब मन से, वचन से और काय से सत्कर्मों का आचरण किया जाय। अस्तु, मनसा, वचसा, कायेन में देखिए मैं ही आत्मशुद्धि करने का सामर्थ्य रखती हूँ।

आत्मा का भान होना बड़ा कठिन है। बड़े बड़े महर्षि लोग आत्मा को मेरे द्वारा ही देखते हैं। ज्ञान के साथ मैं संयुक्त होती हूँ तो आत्माका दर्शन हो जाता है। तभी तो कहा है— 'ज्ञानेन आत्मा लक्ष्यते, चक्षुषा पश्यति तथा मनसा जानाति' आदि प्रयोग भी यही सूचित करते हैं कि यावन्मात्र पदार्थों का बोध मेरे द्वारा ही होता है। आँख से देखता है, मनसे जानता है—इस प्रकार आँख और मन में, जिनसे कि जाना जाता है, मैं ही (तृतीया) तो हूँ।

---

१७ हेतुकर्तृकरणेत्थंभूतलक्षणे ॥ १।३।१२८ ॥

फलसाधनयोग्यः पदार्थो हेतुः। यः करोति स कर्ता। येन क्रियते तत्करणम्। इमं कञ्चित् प्रकारमापन्नः इत्थंभूतः, स लक्ष्यते येन तदित्थं-भूतलक्षणम्। एतस्मिन् विषये वर्तमानात् टाभ्यांभिसो भवन्ति। हेतौ— धनेन कुलम्। विद्यया यशः। कर्तरि—देवदत्तेन कृतम्। जिनदत्तेन भुक्तम्। करणे—दात्रेण लुनाति। परशुना छिनत्ति। इत्थंभूतलक्षणे—अपि भवान् कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीत्? अपि च भवानवदातेन वर्णेन कुमारी-मैक्षिष्ट?

इतना ही नहीं, मैं कर्ता के साथ पाँच इन्द्रिय, पाँच शरीर, तीन योग इत्यादि में करणरूप से रहती हूँ। मेरे बिना कर्ता कुछ भी नहीं कर सकता। न वह संसार में ही विजय प्राप्त कर सकता है और न धार्मिक क्रियाओं को करके आत्म-विकास ही कर सकता है।

मेरे रूप भी बड़े मनोहर और प्रभावशाली हैं, जैसे कि धर्मेण धर्माभ्याम् धर्मैः सुखं लभ्यते। उक्त रूप कर्ता को शिक्षा दे रहे हैं कि हे कर्तः, एक धर्म से सुख मिलता है, दो धर्मों से सुख मिलता है, बहुत धर्मों से सुख मिलता है। अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप धर्मों के द्वारा आत्मा पूर्णतया पवित्र हो जाती है। अतः सिद्ध हुआ कि आत्मविकास करने में, जीवन को पूर्ण सुखमय बनाने में करण कर्ता का अतीव सहायक है।

भगवन्! दूर क्यों जाया जाय? आपके ही आगमों में मेरे गुणगान गाए हैं। 'संजमेणं[१८], तपसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ' इस आगम वाक्य में भी करण ही मुख्य माना गया है। उक्त वाक्य में संयम और तप करण हैं, आत्मा कर्म है और भावेमाणे व्यक्ति कर्ता है।

आगम में एक और भी विलक्षण विधान आया है। वह भी मेरे ही सम्बन्ध में है। वहाँ लिखा है कि—'ज्ञान[१९] से भाव

---

१८ औपपातिकसूत्र समवसरण और भगवतीसूत्र प्रथम शतक।

१९. नाणेण जाणइ भावे दंसणेण य सद्दहे (हे)।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ॥ उत्तरा० अध्य० २८॥

जाने जाते हैं, दर्शन से शुद्धि होती है, चारित्र से इन्द्रियनिग्रह किया जाता है, और तप से अन्तरात्मा पूर्णतया परिशुद्ध हो जाती है।' हर कोई जान सकता है कि मेरी (करण की) कितनी बड़ी महिमा है। मैं कितनी सुन्दर विशेषता रखती हूँ।

करण मात्र में ही मैं सीमित हूँ, यह बात नहीं। मैं अन्य स्थलों में भी बड़े आदर का स्थान पाए हुए हूँ। जैसे कि—

सिद्धि[२०] अर्थात् क्रियानिष्पत्ति द्योत्य होने पर कालवाची और मार्गवाची शब्द से भी व्याप्ति में टा, भ्याम्, भिस् प्रत्यय होते हैं।

सहार्थ[२१] से युक्त अर्थ में वर्तमान शब्द से भी टा भ्याम भिस् प्रत्यय होते हैं। सहार्थ के दो अर्थ हैं—तुल्ययोग और विद्यमान।

प्रसित[२२], अवबद्ध और उत्सुक शब्दों से युक्त आधार में भी विकल्प से तृतीया विभक्ति होती है।

---

२०. टाभ्यांभिस्सिद्धौ ॥ ।१।३।१२७ ॥

सिद्धौ क्रियानिष्पत्तौ द्योत्यायां कालवाचिनोऽध्ववाचिनश्च शब्दात् व्याप्तौ एकद्विबहुषु टा भ्याम् भिस् इत्येते यथासंख्यं प्रत्ययाः भवन्ति। मासेन, मासाभ्याम्, मासैः ज्योतिषमधीतम्। योजनेन, योजनाभ्याम्, योजनैः वैद्यमधीतम्।

२१ सहार्थेन ॥ १।३।१२९ ॥

सहार्थस्तुल्ययोगो विद्यमानश्च, तेन युक्तेऽर्थे वर्तमानात् टाभ्यांभिसो भवन्ति। पुत्रेण सह स्थूलः। सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी।

२२ प्रसितावबद्धोत्सुकैः ॥ १।३।१३२ ॥

प्रसितादिभिर्युक्ते आधारे टाभ्यांभिसो वा भवन्ति। केशैः प्रसितः, केशेषु वा प्रसितः। केशैरवबद्धः, केशेषु अवबद्धः। केशैरुत्सुकः, केशेषूत्सुकः।

काल[२३] में वर्तमान नक्षत्रवाची शब्द से भी आधार में तृतीया विभक्ति विकल्प से हो जाती है।

अस्मृति[२४] में वर्तमान सम् उपसर्गपूर्वक जानाति धातु के कर्म में भी विकल्प से तृतीया विभक्ति होती है।

जिस[२५] अक्षि तथा पाद आदि अर्थों के काणत्व, खंजत्व आदि प्रकारों से, विशेषों से, देवदत्त आदि की आख्या बने, उसमें भी तृतीया विभक्ति होती है।

दीनबन्धो! आपके समक्ष कुछ भी असत्य कहना पाप है। अतः मैंने सत्यरूप से अपनी जो भी विशेषताएँ थीं, आपकी सेवा में प्रगट कर दी हैं। मेरा क्षेत्र बहुत विशाल है। संसार में जितनी भी क्रियाएँ हैं, सब में मेरा उपयोग होता है। अतः सर्व प्रथम मेरे ही सम्बन्ध में वर्णन करने की कृपा करें।

---

२३ काले भाद्वाधारे १।२।१२१।

काले वर्तमानान्नक्षत्रवाचिनः शब्दादाधारे टाभ्यांभिसो वा भवन्ति। पुष्येण पायसमश्नीयात्, पुष्ये पायसमश्नीयात्।

२४ समो ज्ञोऽस्मृतौ चाप्ये ॥ १ । २ । १२२ ॥

संपूर्वस्य जानातेरस्मृतौ वर्तमानस्य यदाप्यं प्राप्यं कर्म तत्र टा भ्याम् भिसो वा भवन्ति। मात्रा संजानीते, मातरं संजानीते। अस्मृताविति किम्? मातरं संजानाति, मातुः संजानाति। स्मरतीत्यर्थः।

२५ यद्भेदैस्तद्वदाख्या ॥ १ । २ । १२० ॥

यस्य भेदिनः प्रकारवतोऽर्थस्य भेदैः प्रकारैः विशिष्टैः तद्वतः तत्प्रकारवदर्थकस्य आख्या भवति। ततः टा भ्याम् भिसो भवन्ति। अक्ष्णा काणः। पादेन खञ्जः। प्रकृत्या दर्शनीयः। जात्या ब्राह्मणः।

चतुर्थी विभक्ति (सम्प्रदान)

तृतीया विभक्ति ने अपना वक्तव्य समाप्त किया तो चतुर्थी विभक्ति प्रभु के चरणों में उपस्थित हुई। उसने विनय के साथ वन्दना की और अपनी विशेषताएँ कहनी शुरू कीं।

भगवन्! कर्ता, कर्म करण की क्या महत्ता है? मेरे बिना तो ये अकेले कुछ भी नहीं कर सकते। प्रत्येक क्रिया में मैं सहायक होती हूँ, तभी कार्य सिद्धि होती है। सम्प्रदान मेरा नाम है। आप जानते ही हैं कि सम्प्रदान की मानव-संसार में कितनी बड़ी प्रतिष्ठा है। सम्प्रदान के द्वारा ही संसार में परोपकार होता है। सम्प्रदान के द्वारा ही आत्मा अपना कल्याण कर सकती है।

मेरे प्रत्यय बड़े ही मनोहर हैं। वे ये हैं— ङे,[26] भ्याम्,

---

२६ ङेभ्यांभ्यस् ॥ १ । १ । १२५ ॥
देयैराप्ये प्रधानेऽर्थे वर्तमानादेकद्विबहुषु यथासंख्यं ङे भ्याम् भ्यस् प्रत्यया भवन्ति।

भ्यस्। ये प्रत्यय आज तक किसी और विभक्ति को नहीं लगे। कितने वफादार हैं, ये मेरे !

मेरा रूप-सौन्दर्य भी कुछ कम नहीं है। 'धर्माय, धर्माभ्याम्, धर्मेभ्यः धनं ददाति' वाक्य में कितना सुन्दर उपदेश मेरे रूप दे रहे हैं। एक धर्म के लिए धन देता है, दो धर्मों के लिए धन देता है, सब धर्मों के लिए धन देता है—अर्थात् धार्मिक संस्थाओं में धन वितीर्ण करने से उक्त तीनों धर्मोंकी यथायोग्य प्राप्ति हो सकती है।

कर्ता का कर्म मेरे लिए ही तो है। 'देवदत्तः उपाध्यायाय गां ददाति'—इस वाक्य में उपाध्याय सम्प्रदान है, गौ कर्म है, देवदत्त कर्ता है। यहाँ देवदत्त कर्ता का कर्म गौ उपाध्यायरूप सम्प्रदान के लिए है। इसके अतिरिक्त देवदत्ताय कन्यां प्रयच्छति. राज्ञे दण्डं वितरति, छात्राय चपेटां ददाति इत्यादि प्रयोगों से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि सम्प्रदानकारक द्वारा ही कर्ताका कर्म सफल हो सकता है।

सत्पुरुषों का प्रत्येक कार्य उपकार के लिए, ज्ञान के लिए, मोक्ष के लिए होता है। अतः उपकाराय, ज्ञानाय, मोक्षाय में भी मेरी ही उपासना हो रही है।

भगवन्! प्रतिक्रमण में जहाँ आप जैसे महापुरुषों को नमस्कार किया जाता है, वहाँ भी तो मैं ही हूँ। 'नमोत्थुणं[२७] अरिहंताणं भगवंताणं' में अर्हन्त भगवान् भी सम्प्रदान बन गए हैं। मैंने अपनी उदारता से प्राकृत भाषा में अपना स्थान षष्ठी को दे

२७ आवश्यकसूत्रगत शक्रस्तव का पाठ।

दिया है परन्तु मेरा सम्प्रदानरूप अर्थ फिर भी सुरक्षित है। अहा, कितना आनन्द है! मेरी कितनी महत्ता है जो कर्ता भी मुझे नमस्कार करता हैं।

शक्तार्थक[२८], वषट्, नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा और हित के योग में भी मेरा ही अधिकार है।

भद्राद्यर्थक[२९] शब्दों के तथा हित शब्द के योग में अप्रधान अर्थ में वर्तमान शब्दसे आशीर्वाद विषय में भी मैं ही हुआ करती हूँ। आशीर्वाद का कितना सुन्दर कार्य है! उसके सम्पादन का श्रेय भी मुझे हो है। मैं अपनी उदारता से उक्त शब्दों के योग में षष्ठी को भी स्थान दे देती हूँ।

---

२८ शक्तार्थवषड्नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाहितैः ॥ १।३।१४२ ॥

शक्तार्थैर्वषडादिभिश्च योगेऽप्रधानेऽर्थे वर्तमानाद् ङेभ्यांभ्यसो भवन्ति। शक्तः शक्नोति, प्रभुः प्रभवति जिनदत्तो देवदत्ताय। अलं मल्लो मल्लाय। वषडग्नये। नमोऽर्हद्भ्यः। स्वस्ति प्रजाभ्यः। इन्द्राय स्वाहा। स्वधा पितृभ्यः। आतुराय हितम्।

२९ भद्रायुष्यक्षेमसुखार्थहितार्थहितैराशिषि ॥ १।३।१४१ ॥

भद्राद्यर्थैर्हितशब्देन च योगेऽप्रधानेऽर्थे वर्तमानादाशीर्विषये ङेभ्यांभ्यसो भवन्ति वा। भद्रमस्तु जिनशासनाय। भद्रमस्तु जिनशासनस्य। एवं भद्रं कल्याणं आयुष्यं दीर्घमायुः चिरजीवितमस्तु देवदत्ताय देवदत्तस्य वा। क्षेमं कुशलं निरामयं भूयात् संघाय संघस्य वा। सुखं शर्म शं भवतात् प्रजाभ्यः प्रजानाम् वा। अर्थः प्रयोजनं कार्यं जायताम् दूताय दूतस्य वा। हितं पथ्यं भूयात् जिनदत्ताय जिनदत्तस्य वा। हितग्रहणमाशिषि पक्षे षष्ठ्यर्थम्। अस्त्येवोत्तरेण चतुर्थी।

वुण्[३०] प्रत्ययान्त स्थानी के कर्म में वर्तमान शब्द से चतुर्थी विभक्ति होती है। स्थानी का क्या अर्थ है? जिसका अर्थ प्रतीत हो पर प्रयोग नहीं; वह स्थानी होता है।

क्रोधाद्यर्थक[३१] धातुओं के योग में जिसके प्रति कोप हो, उस अप्रधान अर्थ में वर्तमान शब्द से चतुर्थी विभक्ति होती है।

स्पृह[३२] धातु के कर्म में वर्तमान शब्द से चतुर्थी विभक्ति होती है। विकल्प से कर्म को भी स्थान मिल जाता है।

मन्यते[३३] धातु जब अवज्ञा अर्थ में प्रयुक्त होती है तो उसके

---

३० स्थानिवुणः ॥ १।३।१३६ ॥

यस्यार्थः प्रतीयते न च प्रयोगः स स्थानी। क्रियायां तदर्थायां वुण् तृच् च इति वुणो विहितस्तदन्तस्य स्थानिनो धातोराप्ये कर्मणि ङेभ्यांभ्यसो भवन्ति। एधेभ्यो व्रजति। पाकाय व्रजति। स्थानीति किम्? एधानाहारको व्रजति। पाकं कारको व्रजति।

३१ क्रुद्द्रुहेर्ष्यासूयार्थैर्यं प्रति कोपो न च कर्म ॥ १।३।१३७ ॥

अमर्षकृत् क्रोधः। अपचिकीर्षा द्रोहः। अक्षमा ईर्ष्या। गुणेषु दोषाविष्करणमसूया। एतदर्थैर्धातुभिर्योगे यं प्रति कोपस्तस्मिन् वर्तमानाद् ङेभ्यांभ्यसो भवन्ति च तत्कर्म भवति। देवदत्ताय क्रुध्यति। जिनदत्ताय कुप्यति। देवदत्ताय द्रुह्यति। देवदत्ताय ईर्ष्यति। देवदत्तायासूयति।

३२ स्पृहेर्वा ॥ १।३।१३९ ॥

स्पृहेर्धातोः कर्मणि वर्तमानाच्चतुर्थी भवति। धर्माय स्पृहयति, धर्मं स्पृहयति।

३३ मन्यस्याकाकादिषु यतोऽवज्ञा ॥ १।३।१४० ॥

यस्मादवज्ञा अन्यस्य विज्ञायते तस्मिन् काकादिवर्जिते मन्यतेराप्ये कर्मणि ङेभ्यांभ्यसो भवन्ति वा। न त्वा तृणाय मन्ये, न त्वा तृणं मन्ये।

कर्म में वर्तमान शब्द से चतुर्थी विभक्ति होती है। विकल्प से कर्म भी प्रयुक्त हो जाता है।

जिसके[३४] लिए कोई चीज़ हो उसमें भी चतुर्थी विभक्ति होती है। 'रथाय दारु' इस प्रयोग में दारु—लकड़ी रथ के लिए है, अतः रथ में चतुर्थी है।

प्रति[३५] और आङ् उपसर्गपूर्वक शृणोति से युक्त अभ्यर्थक में वर्तमान शब्द से भी चतुर्थी होती है।

प्रति[३६] और अनु उपसर्गपूर्वक गॄ (शब्दे) धातु से युक्त आख्यातृ में वर्तमान शब्द से भी चतुर्थी ही होती है।

न त्वा शुने मन्ये, न त्वा श्वानं मन्ये। तृणादेरपि निकृष्टं मन्ये इत्यवजानाति। अकाकादिष्विति किम्? न त्वा काकं घूकं शृगालं मन्ये।

३४ यदर्थम् ॥ १।२।१५० ॥

यत्प्रयोजनं किंचिद् विवक्ष्यते तस्मिन्नर्थे वर्तमानाद् ङेभ्यांभ्यसो भवन्ति। रथाय दारु। कुण्डलाय हिरण्यम्।

३५ प्रत्याङः श्रुवाभ्यर्थके ॥ १।२।१४४ ॥

प्रति आङ् इत्येताभ्यां परेण शृणोतिना युक्तेऽभ्यर्थके वर्तमानाद् ङेभ्यांभ्यसो भवन्ति। देवदत्ताय प्रतिशृणोति। जिनदत्ताय प्रतिशृणोति अभ्युपगच्छतीत्यर्थः।

३६ प्रत्यनोर्गृणाख्यातरि ॥ १।२।१४४ ॥

प्रत्यनु इत्येताभ्यां परेण गॄ शब्द इत्यनेन युक्ते आख्यातरि वर्तमानाद् ङेभ्यांभ्यसो भवन्ति। उपाध्यायाय प्रतिगृणाति, अनुगृणाति, उपाध्यायेनोक्तमनुब्रवीति।

श्लाघादि[३७] धातुओं से युक्त प्रयोज्य अर्थ में वर्तमान शब्द से चतुर्थी होती है।

रुच्यर्थक[३८] धातुओं से युक्त प्रेय में, क्लृप्यर्थक धातुओं से युक्त विकार में और धारी से युक्त उत्तमर्ण में वर्तमान शब्द से भी चतुर्थी विभक्ति होती है।

संसार में जितने भी उत्पात[३९] होते हैं, उन सब की ज्ञापिका मैं ही हूँ। मेरा कितना परोपकार है, मैं पहले ही उत्पातों के सम्बन्ध में खतरे की घंटी बजा देती हूँ। यदि मैं न होऊँ तो भविष्य में होनेवाले उत्पातों का संसार को पता कैसे चले ? साहित्य में जहाँ भी कहीं इस प्रकार के प्रयोग हैं, वहाँ मुझे याद

---

३७ श्लाघह्नुङ्स्थाशपां प्रयोज्ये ॥ १।३।१४८ ॥

श्लाघादिभिर्युक्ते प्रयोज्ये वर्तमानाच्चतुर्थी भवति। देवदत्ताय श्लाघते। स्वगुणादिकं धर्मं विज्ञापयितुमिच्छति इत्यर्थः। चैत्राय ह्नुते, छात्रेभ्यः तिष्ठते, मैत्राय शपते।

३८ रुचिक्लृप्यर्थधारिभिः प्रेयविकारोत्तमर्णेषु ॥ १।३।१४२ ॥

रुच्यर्थैर्धातुभिर्युक्ते प्रेये, क्लृप्यर्थैर्विकारे, धारिणा च उत्तमर्णे वर्तमानाच्चतुर्थी भवति। साधवे रोचते धर्मः। सुदृशे स्वदते तत्त्वम्। श्लेष्मणे कल्पते दधि। बन्धाय जायते रागः। चैत्राय शतं धारयते मैत्रः।

३९ उत्पातेन ज्ञाप्ये ॥ १।३।१४७ ॥

उत्पातेन ज्ञाप्ये वर्तमानाद् ङे भ्यां भ्यसो भवन्ति। श्लोकः—

वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी।
पीता वर्षाय विज्ञेया दुर्भिक्षाय सिता भवेत्॥

वाताय ज्ञापयतीत्यर्थः।

किया गया है। कपिल रंग की बिजली चमकती है तो हवा चला करती है। साहित्यकारों ने वातरूप उत्पात में चतुर्थी विभक्ति करके 'वाताय कपिला विद्युत्' का प्रयोग किया है।

आगम साहित्य में भी मेरी प्रशंसा गाई गई है। पाठ आता है,—'जसट्ठाए[४०] कीरते नग्गभावे'। इसका भावार्थ है—जिस कार्य के लिए नग्नता (अपरिग्रह) व्रत धारण किया था, वह अजर अमर शाश्वत पद प्राप्त कर लिया। उक्त पाठ से सिद्ध हो जाता है कि कर्त्ता की जो भी क्रिया है, वह मेरे लिए ही है। कर्म और करण भी मेरे ही अनुचर हैं।

संसार में जो कुछ भी साधना हो रही हैं, सब की साध्य देवी मैं हूँ। किसी ने कहा कि तुम अर्हन्त प्रभु की उपासना क्यों करते हो? उत्तर मिला कि सिद्ध पद की प्राप्ति के लिए। इस पद से सिद्ध है कि सिद्ध पद साध्य है। उसके प्रकाशनार्थ मेरा ही उपयोग किया जाता है। भगवन्! मैंने संक्षेप में अपने भाव आप के सामने प्रकट कर दिये हैं। आप जान लें, मैं कितनी महान् हूँ। अतः सर्व प्रथम मेरे ही सम्बन्ध में कहने की कृपा करें?

---

४० औपपातिकसूत्र प्रश्नोत्तरभाग तथा भगवतीसूत्र प्रथम शतक।

पञ्चमी विभक्ति (अपादान)

चतुर्थी विभक्ति ने जब अपना सुन्दर वक्तव्य समाप्त कर दिया तो पञ्चमी विभक्ति प्रभु की सेवा में उपस्थित हुई और अपना वक्तव्य सुनाने लगी।

भगवन् ! मैं हूँ तो अपादान विभक्ति। नाम कुछ अच्छा नहीं है। परन्तु नाम कैसा ही हो, भाव देखना चाहिए। आत्मा के साथ अनादि काल से कर्मों का सम्बन्ध है, उससे जीवात्मा को स्वतंत्र करानेवाली मैं ही हूँ। जब कि 'रत्नत्रयान्मोक्षः' कहा जाता है तो इससे यही सिद्धान्त निकलता है कि बद्ध आत्मा को रत्नत्रय से ही मोक्ष प्राप्त होता है। मोक्ष-प्राप्ति में रत्नत्रय हेतु है और यहाँ मेरा राज्य है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रत्नत्रय कहलाते हैं। संसार में जितने भी अन्य रत्न हैं, पाषाण के टुकड़े हैं। यदि कोई वास्तविक रत्न है तो वह दर्शनादि रत्नत्रय ही है। इसी से मोक्ष प्राप्त होता है। सौभाग्य है कि रत्नत्रयान्मोक्षः जैसे महान् सिद्धान्त-

वाक्य में मुझे ही स्थान मिला है। मेरी प्रतिष्ठा कितनी बढ़ी हुई है!

जो हेतु[41] गुण स्वरूप हो—द्रव्य स्वरूप न हो, साथ ही स्त्रीलिङ्ग भी न हो तो उसमें वर्तमान शब्द से भी मैं ही होती हूँ। मैं अपना स्थान उदारता के कारण विकल्प से तृतीया को भी दे देती हूँ।

अपाय[42] में भी मेरा ही प्रयोग किया जाता है। अपाय का अर्थ विश्लेष—विभाग है। प्रयोग किया जाता है—'धर्मादपैति।' इसका अर्थ होता है, धर्म से दूर होता है—गिरता है। उक्त प्रयोग से मैं सूचित करती हूँ कि जो मनुष्य धर्म से भ्रष्ट होता है, वह संसार में दुःख पाता है।

आत्मा संयोग के बन्धन में बँधी हुई अनादि काल से जन्म मरण का चक्कर काट रही है। कहीं भी आत्मा को सुख नहीं मिल सका। आगम में पाठ आता है—'संजोगा विप्पमुक्कस्स'—'संयोगाद् विप्रमुक्तस्य' इस पाठ पर से ध्वनित

---

४१ हेतौ गुणेऽस्त्रियाम् ॥ १ । ३ । १५४ ॥

अस्त्रीलिङ्गे गुणे द्रव्याश्रिते पर्याये हेतौ वर्तमानाद् ङसि भ्याम् भ्यसो वा भवन्ति। जाड्याद् जाड्येन वा बद्धः। ज्ञानाद् ज्ञानेन वा मुक्तः। अस्त्रियामिति किम्? जडतया बद्धः। बुद्ध्या मुक्तः।

४२ अपायेऽवधौ ॥ १ । ३ । १५६ ॥

अपायो विभागः विश्लेषः। तस्मिन् विषये निर्दिष्टे प्रतीयमाने वा योऽवधिरप्रधानं तस्मिन् ङसि भ्यां भ्यसो भवन्ति। ग्रामादपैति। ग्रामादागच्छति। पर्वतादवरोहति। यवेभ्यो गां निवारयति। प्रतीयमानेऽर्थे कुसूलात्पचति, ततो गृहीत्वेत्यर्थः।

होता है कि जब आत्मा संयोग से विप्रमुक्त हो जाती है, वास्तव में तभी सुखी बनती है।

जो मनुष्य ऋण[४३] लेकर फिर उसको नहीं चुकाते हैं, कर्ज अदा करने से घबराते हैं, वे मुक्त नहीं हो सकते। मैं उनको सर्वथा बाँधे रखती हूँ। द्रव्य ऋण, जो संसार में प्रचलित है, उसमें भी मेरी गति है। और जो भाव ऋण—कर्म है, वहाँ पर भी मैं विद्यमान हूँ। जो आत्मा हिंसादि कर्मों के ऋण से युक्त हैं, उनको मैंने संसार-चक्र में बाँध रक्खा है, छोड़ूँगी नहीं।

देवाधिदेव ! आपका प्ररूपित जो अनेकान्तवाद है, वह मुझमें अच्छी तरह घटित हो रहा है। अनेकान्त का अर्थ है अनेक धर्मों का एक वस्तु में होना। आप देखिए, मेरे में बद्धत्व गुण भी है और मुक्तत्व गुण भी, इन दो विरोधी गुणों की युक्तता के कारण मैं अनेकान्तवाद का सुन्दर उदाहरण उपस्थित कर रही हूँ। 'अज्ञानाद्बद्धः, ज्ञानान्मुक्तः' इन दो उदाहरणों में मेरा अनेकान्तवाद सम्बन्धी गौरव प्रस्फुटित हो रहा है। कर्ता को बद्ध और मुक्त करने का मेरा अखण्ड सामर्थ्य है।

चैतन्य और जड़ का पृथक्करण भी मेरे द्वारा ही होता है। योगीजन जीवाजीव का विभेदज्ञान मुझसे ही तो करते हैं। 'अस्मादयं पृथक्' यह प्रतीति मेरे ही कारण से होती है।

---

४३ ऋणे ॥ १ । ३ । १५५ ॥

हेतौ ऋणे वर्तमानान्नित्यं ङसि भ्यां भ्यसो भवन्ति वा। शताद्बद्धः। सहस्राद्बद्धः।

अन्योन्याभाव भी एक प्रकार से मेरा ही क्षेत्र है। 'घटः पटो न' इसका अर्थ यही तो होता है कि घट से पट पृथक् है। सापेक्ष-वाद भी मुझ से ही जन्य है। प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप से है, पररूप से नहीं। घट अपने घटत्व रूप से है, पटत्वादि पररूप से नहीं। संसार में यावन्मात्र पदार्थ हैं, सब परस्पर के पृथक्त्व के कारण ही स्वस्वरूप में ठहरे हुए हैं। यदि मैं न होऊँ और मेरा कार्य पृथक्-परिज्ञान न हो तो कभी किसी भी चीज का ज्ञान ही न होगा। संसार और मोक्ष का क्या भेद है, यह भी तो मेरे द्वारा ही जाना जाता है।

पूर्णभद्र वन कितना सुन्दर है! वृक्षों पर कितने मधुर फल लगे हुए हैं! वृक्षों के नीचे नन्हे नन्हे बालक घूम रहे हैं— फल पाने की इच्छा से। परन्तु मेरे बिना फल मिल सकते हैं? कभी नहीं। जबतक वृक्ष में अपादान न हो फल कैसे मिलें? 'वृक्षात्फलानि पतन्ति' वाक्य मेरी प्रभुता का वर्णन कर रहा है। भगवन्! अतएव आप मुझे ही सर्वप्रथम गौरव प्रदान करें।

भगवन्! मेरा सबन्ध अनेक शब्दों के साथ हैं। मेरी छत्रछाया में अनेकानेक शब्द रहते हैं। व्याकरण-साहित्य में मेरे लिए बहुत विधायकसूत्र बनाए गए हैं। मेरे प्रयोगों से भारतीय साहित्य भरा पड़ा है।

स्तोक[४८], अल्प, कतिपय, कृच्छ्र शब्दों से भी मैं हुआ करती

---

४८ ङसिभ्यांभ्यस्स्तोकाल्पकतिपयकृच्छ्रादसत्त्वे ॥ १।२।१५२ ॥

यतो द्रव्ये शब्दप्रवृत्तिः स पर्यायो गुणः सत्त्वं, तेनैव रूपेणोच्यमानम-

हूँ। विकल्प से मैं अपना स्थान तृतीया को भी दे देती हूँ।

मानवजीवन के लिए विद्या ग्रहण करना बहुत आवश्यक है। विद्या के बिना मनुष्य का जीवन सर्वथा तुच्छ है। गुरु और शिष्य से ही यह संसार बसा हुआ है। शिष्य गुरु के पास विद्याध्ययन करता है। हर्ष है कि विद्या[४५] प्रदान करने-वाले गुरु में मेरा प्रयोग होता है—उपाध्यायादधीते। नियम पूर्वक अध्ययन में ही मैं अपना अधिकार रखती हू। अनियम पूर्वक श्रवण में मुझे जाना अभीष्ट नहीं। जो मनुष्य नियमपूर्वक अध्ययन करता है, वही श्रुतज्ञान का प्रकाश प्राप्त कर सकता है।

आङ्[४६] उपसर्ग के योग में भी मेरा ही प्रयोग किया जाता है। आङ् के सत्ताईस अर्थ हैं—अवधि, मर्यादा, प्राप्ति, इच्छा,

---

सत्त्वं, तस्मिन् करणे स्तोकादिभ्यः एकद्विबहुषु ङसिभ्यांभ्यसो भवन्ति वा। स्तोकात् स्तोकेन, अल्पात् अल्पेन, कतिपयात् कतिपयेन, कृच्छ्रात् कृच्छ्रेण मुक्तः। असत्त्व इति किम् ? स्तोकेन विषेण हतः। अल्पेन शेथुना मुक्तः।

४५ आख्यातर्युपयोगे ॥१।३।१५७॥

आख्याता प्रतिपादयिता। उपयोगो नियमपूर्वकं विद्याग्रहणम्। आख्यातरि वर्तमानादुपयोगे विषये ङसिभ्यांभ्यसो भवन्ति। उपाध्याया-दधीते-आगमयति। आचार्याच्छृणोति-अधिगच्छति। उपयोगे किम् ? नटस्य शृणोति।

४६ आङा ॥ १।३।१५८ ॥

अवधाविति वर्तते। आङा योगे अवधौ ङसिभ्यांभ्यसो भवन्ति। आ पाटलीपुत्रात् वृष्टो देवः। आकुमारेभ्यो यशः शाकटायनस्य गतम्।

बन्धन, साध्य आदि। परन्तु मैंने अपने प्रयोग के लिए अवधि-वाचक आङ् ही ग्रहण किया है।

अप[४६] और परि उपसर्ग साहित्य में खूब लब्धप्रतिष्ठ हैं। इन दोनों से युक्त वर्ज्य अर्थ में भी मैं प्रयुक्त होती हूँ।

प्रति[४७] उपसर्ग जब प्रतिनिधि और प्रतिदान अर्थ को सूचित करता है तो मैं उसके साथ सहयोग करती हूँ।

कर्म[४८] और आधार का स्थान बहुत ऊँचा माना गया है। परन्तु जब ये 'प्यादेशान्त' से युक्त स्थानी हों तो मैं अपना अधिकार कर लेती हूँ। अर्थ प्रतीत होने पर भी शब्द न दिखलाई दे, वह स्थानी होता है।

व्याकरण[४९] में प्रकृति और प्रत्यय दो चीजें मुख्य हैं। प्रकृति

---

४६ वर्ज्येऽपपरिणा ॥ १।२।१५९ ॥

अप परि इत्येताभ्यां युक्ते वर्ज्ये ङसिभ्यांभ्यसो भवन्ति। अपपाटली-पुत्राद् अपत्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः। तत्र गर्तान् वर्जयित्वेत्यर्थः। एवं परियोगेऽपि।

४७ प्रतिनिधिप्रतिदाने प्रतिना ॥ १।२।१६० ॥

प्रतिनिधौ प्रतिदाने च वर्तमानेन प्रतिना युक्ताद् ङसिभ्यांभ्यसो भवन्ति। प्रद्युम्नो वासुदेवात्प्रति, सदृश इत्यर्थः। तिलेभ्यः प्रति माषान् प्रयच्छति। तिलान् गृहीत्वा माषान् ददाति।

४८ स्थानिप्यकर्माधारे ॥ १।२।१६१ ॥

स्थाने प्यादेशान्तेन युक्ते कर्मण्याधारे च ङसिभ्यांभ्यसो भवन्ति। प्रासादात्प्रेक्षते। आसनात् प्रेक्षते। स्थानिग्रहणं किम्? प्रासादमारुह्य, आसने उपविश्य प्रेक्षते।

४९ प्रत्ययः कृतोऽषठ्याः ॥ १।१।४१ ॥

इह यः कृतो विहितः स प्रत्ययसंज्ञो वेदितव्यः। अषष्ठ्याः षष्ठ्यन्तार्थः

का गौरव प्रत्यय से है और प्रत्यय का गौरव प्रकृति से। यह प्रकृति और प्रत्यय का विभाग मेरे द्वारा ही होता है।

भगवन्! आप देख लें, मेरा प्रभुत्व कितना महान् है! कितने अधिक शब्दों पर मेरा अधिकार है! अधिक कहना मूर्खता है। अतः मेरे विषय में ही भगवन्! सबसे पहले कथन करने की कृपा करें।

षष्ठी न चेत् स षष्ठ्यन्तार्थविहितो भवति। आगमो विकारो वेत्यर्थः। ङी—राज्ञी। सु-औ-जस्—वृक्षः वृक्षौ वृक्षाः।

परः १।१।४४ ॥

यः प्रत्ययः स प्रकृतेः पर एव भवति। वृक्षः वृक्षौ वृक्षाः।

षष्ठी विभक्ति (सम्बन्ध)

पंचमी विभक्ति ने जब प्रभुके समक्ष अपना निवेदन प्रकट कर दिया तो षष्ठी विभक्ति अग्रसर हुई। विधिपूर्वक अभिवन्दन के साथ बड़े ही प्रभावशाली शब्दों में अपना निवेदन सेवा में रक्खा।

भगवन्! मेरा नाम सम्बन्ध है। अखिल संसार में मेरा ही प्रभुत्व है। सम्बन्ध से ही तो सारा संसार चल रहा है। प्रत्येक प्राणी परस्पर के सम्बन्ध के लिए उत्कण्ठित हो रहा है, पूर्व सम्बन्ध को निभाने में तत्पर है।

मेरे रूप बड़े ही मनोहर हैं—धर्मस्य, धर्मयोः, धर्माणाम्। ये जीवमात्र को शिक्षा दे रहे हैं कि यदि तुम सुखी होना चाहते हो, अपना जीवन पवित्र बनाना चाहते हो तो धर्म से सम्बन्ध करो। जबतक आत्मा के साथ धर्म का सम्बन्ध न होगा तबतक आत्मा किसी भी प्रकार से सुखी नहीं हो सकती।

प्रधान अर्थ में और विभक्तियाँ भी काम कर जाती हैं, पर अप्रधान को कौन पूछता है। बड़ा वह है जो अप्रधानों के साथ— दीनों के साथ, प्रेम करे। आपकी महत्ता भी तो दीनवत्सलता के कारण ही है। भगवन्! मैं भी आपके उपदेश पर चल रही हूँ। अप्रधान[५०] अर्थ को मैंने अपनाया है।

अपादान ने अपना जो गौरव गाया है, वह व्यर्थ है। अपादान का अर्थ विश्लेष—वियोग है; और सम्बन्ध का अर्थ योग—जोड़ है। अपादान वियोग करने में ही अपना मुख्य कर्त्तव्य समझता है। इसके विपरीत मैं सम्बन्ध करने में गौरव अनुभव करती हूँ। जब आत्मा के साथ ज्ञान, दर्शन और चारित्र का पूर्ण सम्बन्ध हो जाता है तो आत्मा अजर अमर मोक्ष पद का अधिकारी हो जाती है।

भगवन्! मेरी गौरव-गाथा कितनी ऊँची है कि सब की सब विभक्तियाँ मेरे लिए ही प्रयत्नशील हैं। कोई भी मेरी आज्ञा से बाहर नहीं। जैसे कि—

जब कर्ता सम्यग्ज्ञान से सम्बन्ध करना चाहता है कर्म अपनी ओर से सब प्रकार का सहयोग अर्पण कर देता है। 'शास्त्रं पठति' वाक्य का अर्थ होता है, जिज्ञासु शास्त्र पढ़ता है। यहाँ जिज्ञासु कर्ता है और शास्त्र कर्म है। शास्त्र का सहयोग न हो तो कर्ता सम्यग्ज्ञान से सम्बन्ध कैसे कर सकता है?

---

५० ङसोसाम् ॥ १।३।१६३।

अप्रधानेऽर्थे वर्तमानाद् एकद्विबहुषु यथासंख्यं ङस् ओस् आम् इत्येते प्रत्यया भवन्ति योगे सम्बन्धे। राज्ञः पुरुषः। देवदत्तयोः पुत्रः। पाषाणानां राशिः।

तृतीया विभक्ति करण भी बड़ा स्नेह रखती है। वह अपने द्वारा कार्य-सिद्धि में जुट जाती है। 'अनेन सूत्रेण सिद्धं' वाक्य से करण का सहयोग स्पष्टतया ध्वनित हो जाता है।

चतुर्थी विभक्ति भी कुछ कम सहकारिणी नहीं है। कर्ता जब आलस्य में पड़ जाता है या विघ्न बाधाओं से हताश हो जाता है तो चतुर्थी विभक्ति ही उसे उत्साहित करती है। 'मोक्षाय अथवा महत्त्वाय शास्त्रं पठति' वाक्य में मोक्ष और महत्त्व सम्बन्धी चतुर्थी विभक्ति उत्साह की विद्युत् चमकानेवाली है।

अपादान एक प्रकार से मेरे विरुद्ध है परन्तु मेरे अनुकूल भी वह बहुत अधिक है। जब आत्मा ज्ञान से सम्बन्ध करता है तो पहले अज्ञान से मुक्त होना पड़ता है। यह नहीं हो सकता कि अज्ञान भी बना रहे और ज्ञान भो उत्पन्न हो जाय। 'अज्ञा-नान्मुक्त एव ज्ञानवान् भवति' वाक्य सूचित करता है कि अज्ञान से मुक्ति पा लेने के बाद ही कर्ता सम्यग्ज्ञान से सम्बन्ध स्थापित करता है।

आधार भी मेरा अनुगामी है। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए एकान्त स्थान का सेवन करना चाहिए। बिना एकान्त स्थान के—स्वच्छ सुन्दर वातावरण के हृदय में सम्यग्ज्ञान का सूर्य नहीं चमक सकता।

संसार-चक्र में आत्मा का जन्म मरण तभी तक होता है जबतक कि आत्म-प्रदेशों का सम्बन्ध परस्पर में दृढ़ नहीं होता। कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाने के बाद जीवात्मा के प्रदेश सादि-अनन्त दृढ़ सम्बन्ध में बँध जाते हैं तो फिर कभी आत्मा को जन्म-मरण के चक्र में फँसना नहीं पड़ता। वह अजर

अमर[51] घनरूप हो जाती है। आत्मा ही नहीं, जिन और द्रव्यों के भी प्रदेश परस्पर अभेद्य सम्बन्ध से सम्बन्धित होते हैं वे भी कभी नष्ट नहीं होते। इस प्रकार के द्रव्य अनादि कहे जाते हैं, जैसे कि धर्म, अधर्म, आकाश। महाराज! यह सब कुछ मैंने गर्व से नहीं कहा है। जो कुछ भी सत्य था, आपके सामने रख दिया है। मेरे गौरव को देखते हुए पहले मेरा वर्णन होना चाहिए।

मैं करण[52] में भी प्रभुत्व रखती हूँ। कभी कभी ऐसा होता है कि करण को भी मेरे लिए अपना स्थान छोड़ना पड़ता है। 'जानाति' के अज्ञान अर्थ में वर्तमान करण में भी षष्ठी विभक्ति होती है।

वर्तमान[53] और आधार में क्तप्रत्ययान्त धातु के कर्म और कर्ता में भी षष्ठी विभक्ति हुआ करती है।

---

५१ असरीरा जीवघणा उवउत्ता दंसणे य णाणे य।
सागारमणागारं लक्खणमेयं तु सिद्धाणं ॥११॥
णिच्छिन्नसव्वदुक्खा, जाई जरामरणबंधणविमुक्का।
अव्वाबाहं सुक्खं अणुहोन्ति सासयं सिद्धा ॥२१॥
—औपपातिक समाप्तिगाथा।

तत्थ णं जे से सादीए अपज्जवसिए सेणं सिद्धाणं।
—भग० श० ८ उ० ९

५२ करणे ज्ञोऽज्ञाने ॥ १।३।१६५ ॥

जानातेरज्ञानार्थे वर्तमानस्य यत्करणं तस्मिन् ङसोसामो भवन्ति। ज्ञानमवबोधः। सर्पिषो जानीते, सर्पिषा करणभूतेन प्रवर्तत इत्यर्थः। अज्ञान इति किम्? स्वरेण पुत्रं जानाति।

५३ क्तस्य सदाधारे ॥ १।३।१६७ ॥

सति वर्तमाने यः क्तः आधारे च तदन्तस्य धातोः कर्मणि कर्तरि च

उणादि[54] वर्जित कृत् के गौण कर्म में भी षष्ठी विभक्ति को आदर का स्थान प्राप्त है।

हे प्रभो ! जीव के साथ ज्ञानादि का सम्बन्ध होने पर ही जीव पूर्ण सुखों का अनुभव कर सकता है। जबतक सम्बन्ध है तबतक जीव में जीवत्व है। जबतक सम्बन्ध है तबतक द्रव्य का अस्तित्व है। द्रव्य का अस्तित्व गुण पर्याय के सम्बन्ध पर ही अवलम्बित है। गुण पर्याय के सम्बन्ध के बिना द्रव्य है ही क्या चीज ? ऐसा हो नहीं सकता, फिर भी कल्पना कीजिए कि द्रव्य से गुण और पर्याय पृथक् हो जायँ तो द्रव्य का अस्तित्व ही नहीं रह सकता। इस दृष्टि से प्रत्येक द्रव्य का अस्तित्व भी मुझ पर ही आश्रित है।

विश्वविद्यालय के छात्र भी मेरी उपासना से ही परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते हैं। जबतक छात्र विद्या को अपने अन्तर्हृदय में सम्बन्धित नहीं कर लेता तबतक वह किसी भी प्रकार अपने ध्येय में सफल-मनोरथ नहीं हो सकता।

संसार में चार पुरुषार्थ माने गए हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनकी जितनी भी ऊँची साधना की जायगी, जीवात्मा उतना ही ऊँची उठती चली जायगी। साधना का

ङसोसामो भवन्ति। सति क्तः—राज्ञां मतः, राज्ञां पूजितः, प्रजानां कान्तः। आधारे क्तः—इदमोदनस्य भुक्तम्, इदं सक्तूनां पीतम्, इदमेषामासितम्।

५४ कर्मणि गुणे ॥ १।२।१६९ ॥

उणादिवर्जितस्य कृतः कर्मणि गुणे ङसोसामो वा भवन्ति। नेता अश्वस्य स्रुघ्नम्। गुण इति किम् ? नेताऽश्वस्य। कर्मान्तरापेक्षत्वं गुणत्वं, अप्रधानाधिकारादतो द्विकर्मकाणामिहोदाहरणम्।

सर्वोत्कृष्ट पथ यही है कि इनको अन्तरात्मा के साथ पूर्णतया सम्बन्धित कर लिया जाय।

रोगी का रोग भी कब दूर हो सकता है? जब कि वह औषधी को अन्दर पहुँचायगा। जबतक औषधी पात्र में है तबतक कुछ नहीं हो सकता।

सुवर्ण आदि कठोर धातु भी जलरूप होकर द्रवित हो जाती हैं, अथवा भस्म होकर राख में परिणत हो जाती हैं। परन्तु कब? जब कि अग्नि का धातु के साथ पूर्ण सम्बन्ध हो।

इतना ही नहीं, प्रत्येक प्राणी अपने साथ सुख का सम्बन्ध चाहता है। संसार में कोई भी ऐसा जीव नहीं जो दुःख से घृणा तथा सुख से स्नेह न रखता हो। प्रभो! आपने भी इसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए अहिंसा-धर्म का प्रतिपादन किया है। अहिंसा के द्वारा ही प्रत्येक व्यक्ति सुख से सम्बन्धित हो सकता है।

दयासिन्धो! कितने उदाहरण दूँ। मेरे स्वरूप को सिद्ध करनेवाले अनेकानेक उदाहरण हैं। समग्र साहित्य सम्बन्ध से ही प्रकाशमान है। अतः कृपानिधे! सर्वप्रथम मेरे ही सम्बन्ध में वर्णन करें।

सप्तमी विभक्ति (आधार)

षष्ठी विभक्ति ने जब अपना वक्तव्य समाप्त कर दिया तो सप्तमी विभक्ति उठी और सविधि वन्दन नमस्कार कर अपनी विशेषताएँ बतलाने लगी ।

भगवन् ! मुझे आधार कहते हैं । मेरा दूसरा नाम अधिकरण भी है । जिस प्रकार सर्व पदार्थोंकी आधारभूत भूमि है, उड़नेवाले विहंगमों का आधारभूत आकाश है, जलादि पदार्थों के आधारभूत घटादि पदार्थ हैं, उसी प्रकार अन्य सब वचन विभक्तियों की आधारभूत मैं हूँ । सब विभक्तियाँ मेरे ही आश्रित हो कर ठहरी हुई हैं ।

मेरे रूप भी बड़े प्रभावशाली हैं—धर्मे, धर्मयोः, धर्मेषु । ये रूप यह सूचित करते हैं कि जीवात्मा कभी एक धर्म में स्थित होता है, कभी दो धर्मों में स्थित होता है, कभी तीन धर्मों में स्थित होता है । अविरत-सम्यग्दृष्टि आत्मा सम्यग्ज्ञान

में स्थित होकर जीवन को पवित्र बनाती है। ज्ञान के साथ ही दर्शन भी अवस्थित होता है, अतः दो धर्मों की आराधना हो जाती है। देशविरत अथवा सर्वविरत आत्मा सम्यग्ज्ञान, सम्यग्-दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप धर्मत्रय में अवस्थित होती है। एक धर्म के लिए यह भी बात है कि मिथ्यादृष्टि आत्मा केवल व्यावहारिक पुण्यरूप धर्म में ठहरती है। जीवन को पवित्र बनानेवाला धर्म है और जबतक जीवात्मा अपने आपको धर्म में संलग्न नहीं करता तबतक संसार-सागर से उद्धार नहीं हो सकता।

संसार में जितने भी द्रव्य हैं, मैं उन सबका आधार हूँ और वे मेरे आधेय हैं। आधेय पदार्थ सर्वदा आधार के ही आश्रित रहते हैं। क्या कभी ऐसा भी हुआ है कि आधेय बिना आधार के ही रहते हों? कभी नहीं। मेरे बिना किसी का काम ही नहीं चल सकता।

क्रिया[५५] का आश्रय कर्ता तथा कर्म होते हैं और कर्ता और कर्म का जो आश्रय—अधिकरण होता है, वह आधार कहलाता है। आधार में ङि, ओस्, सुप् प्रत्यय होते हैं। उक्त नियम से

---

५५ आधारे ॥ १।३।१७६ ॥

क्रियाश्रयस्य कर्तुः कर्मणो वा यः आधारः अधिकरणं, तस्मिन् ङ्योस्सुपो भवन्ति। आसने आस्ते। स्थाल्यां पचति। गंगायां घोषः। तिलेषु तैलम्। आकाशे शकुनयः। कृष्णा गोषु सम्पन्नक्षीरतमा, कृष्णा गवां सम्पन्नक्षीरतमा इति समुदायस्यैकदेशं प्रत्याधारभावविषयविवक्षायां सप्तमी सम्बन्धविवक्षायां तु षष्ठी। यथा वृक्षे शाखा। वृक्षस्य शाखा। इति निर्धारणन्तु कृष्णेत्यादेः पदान्तरात्।

यह सिद्ध हो जाता है कि संसार में कर्ता और कर्म ही मुख्य वस्तु हैं और उनकी आधार भूमि मैं हूँ। अतः सबसे बढ़कर मेरा ही गौरव है।

गुण तथा पर्याय द्रव्य के आश्रित रहते हैं क्योंकि द्रव्य आधार हैं और गुण तथा पर्याय उनमें आधेयरूप से रहनेवाले हैं। प्रश्न किया जाता है—'ज्ञानं कुत्र तिष्ठति ?' ज्ञान कहाँ ठहरा हुआ है ? उत्तर मिलता है—'आत्मनि।' अर्थात् ज्ञान आत्मा में रहता है। उक्त प्रयोग से सिद्ध है कि ज्ञान गुण आधेय है और वह आधारस्वरूप आत्मा में ठहरता है। 'आकाशे द्रव्याणि तिष्ठन्ति' यह वाक्य भी उक्त सिद्धान्त को ही पुष्ट करता है। यदि सैद्धान्तिक लोग आकाश का अस्तित्व स्वीकार न करें तो फिर घट पटादि पदार्थ कहाँ रहें ? उनको कहीं भी ठहरने को स्थान न मिले। भगवन् ! यह मेरी ही उदारता है कि मैं (सातवीं विभक्ति आधार) सब को अपने में स्थान दिए हुए हूँ।

'गुरौ श्रद्धा सदा नूनं संसारार्णवतारिका' यह पद्यांश बताता है कि गुरु में श्रद्धा करने से ही मनुष्य संसार-सागर से पार हो सकता है। संसार में गुरु ही एक मात्र पूज्य पुरुष है और हर्ष है कि मैंने वहाँ स्थान पाया है। गुरु में श्रद्धा-भक्ति शिष्य को उन्नत बना देती है। 'गुरु में श्रद्धा' यहाँ श्रद्धा का विषय गुरु है और इसलिये गुरु में (गुरौ श्रद्धा) सप्तमी का प्रयोग किया है।

जिनेन्द्रदेव ! मेरा गौरव इतना ऊँचा है कि तृतीया विभक्ति भी अपना स्थान छोड़ देती है और मुझे वहाँ की

अधिकारिणी बना देती है। अतएव कर्म[५६] से युक्त हेतु में मुझे स्थान मिलता है।

पूजा और प्रतिष्ठा में भी मैं ही प्रयुक्त होती हूँ। वैयाकरणों का कहना है कि साधु[५७] और निपुण शब्द से जहाँ अर्चा गम्यमान हो वहाँ सप्तमी का प्रयोग करना चाहिए।

अधि[५८] उपसर्ग के योग में ईशितव्य तथा ईशिता दोनों में सप्तमी का प्रयोग किया जाता है।

उप[५९] उपसर्ग से युक्त अधिकी में—अधिकवाले में सप्तमी का प्रयोग होता है। उप उपसर्ग अधिक और अधिकी के सम्बन्ध को सूचित करता है।

---

५६ हेतौ कर्मणा ॥१।२।१७२॥

कर्मणा युक्ते हेतौ वर्तमानाद् ङ्योस्सुपो भवन्ति। तृतीयापवादः।

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति, दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्।
बालेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः॥

५७ साधुनिपुणेनार्चायाम् ॥ १।२।१७३ ॥

साधु निपुण इत्येताभ्यां युक्ते अर्चायां गम्यमानायां ङ्योस्सुपो भवन्ति। साधुर्देवदत्तो मातरि। निपुणो जिनदत्तः पितरि। अन्यत्र साधुः भृत्यो राज्ञः। तत्त्वाख्याने न भवति।

५८ स्वेशेऽधिना ॥ १।२।१७४ ॥

अधीत्यनेन योगे स्वे ईशितव्ये ईशे ईशितरि स्वामिनि चार्थे वर्तमानाद् ङ्योस्सुपो भवन्ति। स्वे—अधिमगधेषु श्रेणिकः। अध्यवन्तिषु प्रद्योतः। ईशे—अधिश्रेणिके मगधाः। अधिप्रद्योतेऽवन्तयः।

५९ उपेनाधिकिनि ॥ १।२।१७५ ॥

उप इत्यधिकाधिकिसम्बन्धं द्योतयति। तेन युक्ते अधिकिनि ङ्योस्सुपो

सुच्[60] प्रत्ययार्थक शब्दों से युक्त आधार-स्वरूप काल में भी सप्तमी विभक्ति का प्रवेश विकल्प से माना जाता है।

कुशल[61] और आयुक्त से युक्त आधार में भी सप्तमी विभक्ति का प्रयोग होता है, यदि आसेवा गम्यमान हो।

स्वामी[62], ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षी, प्रतिभू और प्रसूत शब्दों से युक्त अप्रधान में भी विकल्प से सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया जाता है।

भवन्ति । उपखार्यां द्रोणः । उपनिष्के कार्षापणम् । द्रोणकार्षापणाभ्यामधिकौ खारीनिष्कावित्यर्थः ।

६० सुजर्थैः काले वा ॥ १।२।१७७ ॥

सुचोऽर्थो येषां प्रत्ययानां तदन्तैर्युक्ते काले आधारे ङ्योस्सुपो भवन्ति । द्विरह्नि भुङ्क्ते । द्विरह्नो भुङ्क्ते, मासे पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते, मासस्य पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते । बहुधाह्नि भुङ्क्ते, बहुधाह्नो भुङ्क्ते । आधार इति किम् ? द्विरह्नो भुङ्क्ते । काल इति किम् ? द्विरध्वनि भुङ्क्ते ।

६१ कुशलायुक्तेनासेवायाम् ॥ १।२।१७८ ॥

कुशल आयुक्त इत्येताभ्यां युक्ते आधारे आसेवायां तात्पर्ये गम्यमाने ङ्योस्सुपो वा भवन्ति । कुशलो विद्याग्रहणे, कुशलो विद्याग्रहणस्य । आयुक्तस्तपश्चरणे, आयुक्तस्तपश्चरणस्य । अन्यत्र कुशलश्चित्रकर्मणि, न च करोति । आयुक्तो गौः शकटे—आकृष्य युक्तः इत्यर्थः ।

६२ स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च ॥१।२।१७९॥

स्वाम्यादिभिर्युक्तेऽप्रधाने वा ङ्योस्सुपो भवन्ति । गोषु स्वामी, गवां स्वामी । गोष्वीश्वरः, गवामीश्वरः । गोषु दायादः, गवां दायादः । गोषु साक्षी, गवां साक्षी । गोषु प्रतिभूः, गवां प्रतिभूः । गोषु प्रसूतः, गवां प्रसूतः ।

हे नाथ ! मैंने अपना निवेदन केवल संक्षेप में प्रकट किया है। आप तो सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं, सब कुछ जानते ही हैं। सभी विभक्तियों से मेरा गौरव बढ़ कर है। अतः सर्वप्रथम मेरे ही सम्बन्ध में कहने की कृपा करें।

उपसंहार

[स्याद्वाद की दृष्टि से भगवान् का समाधान]

सातों ही विभक्तियों ने जब अपने वक्तव्य समाप्त कर दिए तो भगवान् ने बड़ी गम्भीर वाणी में सबको समझाना शुरू किया। भगवान् की अमृतमय देशना से सबकी सब विभक्तियाँ प्रसन्न हो उठीं और भगवान् का सदुपदेश तन्मय होकर सुनने लगीं।

भगवान् ने कहा—आप सब मेल से रहें। संसार में प्रेम का जीवन ही जीवन है। परस्पर के ईर्ष्या, असूया, लड़ाई झगड़ा, विवाद आदि द्वन्द्व किसी भी दशा में ठीक नहीं होते। तुम में से कौन छोटी कौन बड़ी ? यह प्रश्न ही निराधार है। अपने अपने स्थान में सभी का गौरव है, सभी की प्रतिष्ठा है।

संसार में सात प्रकार के अर्थ हैं। उनका अवबोध कराने-वाली वचन-विभक्तियाँ भी सात ही हैं। जिस प्रकार शरीर के

हस्त आदि अवयव ठीक होने पर ही काम चल सकता है, प्रासाद के सब अवयव सम्पूर्ण होने से ही प्रासाद कहा जाता है, वृक्ष पत्र-पुष्प आदि के होने से ही सुन्दरता प्राप्त कर सकता है उसी प्रकार सातों विभक्तियों के मेल से ही वचन व्यवहार की प्रवृत्ति तथा व्यवस्था होती है, अन्यथा नहीं।

प्रश्न हो सकता है कि जब हम सातों ही प्रधान हैं, उत्कृष्ट हैं, तो फिर सातों का युगपत् ही उल्लेख होना चाहिए, क्रमशः नहीं क्योंकि क्रमशः उल्लेख वहाँ होता है जहाँ कुछ ऊँची नीची श्रेणी होती है। परन्तु यह प्रश्न ठीक नहीं। सातों विभक्तियाँ अपने अपने स्थान में प्रधान होते हुए भी क्रमशः वाच्य हैं। प्रधानता और अप्रधानता की बात दूसरी है और क्रमशः वाच्यता की बात दूसरी। क्रमशः कथन करने का यह भाव नहीं कि कोई छोटी बड़ी है।

सर्वप्रथम प्रथमा विभक्ति कर्ता है। यदि कर्ता न माना जाय तो अन्य छह विभक्तियाँ किसी भी काम की न होंगी। जिस प्रकार जीवात्मा के बिना शरीर और अङ्क के बिना शून्य (बिन्दु) का कोई प्रयोजन नहीं, उसी प्रकार बिना कर्ता के कर्मादि षड्विभक्तियाँ भी निष्प्रयोजन हैं। कर्ता शब्द ही क्रिया की सिद्धि करता है— 'यः करोति स कर्ता।' जब क्रिया की सिद्धि हो गई तो क्रिया-फल भी स्वयं सिद्ध हो गया। 'या या क्रिया सा सा फलवती' इस नियम के अनुसार कर्ता के द्वारा की जानेवाली क्रिया का फल कोई न कोई अवश्य होना ही चाहिए और वह फल अन्य कोई नहीं, कर्म है। उक्त पद्धति से कर्ता के पश्चात् कर्म का मानना सिद्ध हो गया।

कर्म की सिद्धि के पश्चात् करण का नंबर आता है। कर्ता का क्रिया में सब से अधिक जो सहायक है वही करण है। अतः कर्ता और कर्म के बाद करण का मानना युक्तियुक्त है।

क्रिया का फल (कर्म) जिसके लिए होता है, वह सम्प्रदान है। यदि सम्प्रदान न हो तो कर्ता क्रिया करे ही क्यों? अतएव कर्ता, कर्म और करण के बाद सम्प्रदान का अधिकार सिद्ध हो जाता है।

क्रिया का उद्देश्य यही होता है कि एक वस्तु से दूसरी वस्तु को पृथक् कर अन्य वस्तु से उसका सम्बन्ध कराया जाय। इस कथन से अपादान और सम्बन्ध का क्रम आ जाता है। अपादान और सम्बन्ध का पारस्परिक क्रम भी ठीक है। जब एक पदार्थ एक स्थान से पृथक् होगा, तभी तो वह दूसरे स्थान से सम्बन्ध कर सकेगा, पहले तो नहीं। उदाहरण के लिए 'राज्ञः पुरुषः—राजा का पुरुष' है। पुरुष का प्रथम अन्य पुरुषों से सम्बन्ध विच्छेद हुआ, फिर राजा से सम्बन्ध स्थापित हुआ तभी तो राजा में षष्ठी हुई। अपादान के अनन्तर सम्बन्ध की सिद्धि के लिए उक्त प्रमाण अतीव बलवान् है।

सम्बन्ध एक प्रकार का संयोग है। संयोग गुण है अतः वह किसी न किसी आधार में रहेगा। इस नियम से सम्बन्ध के बाद अधिकरण का—आधार का स्थान आता है। आधार तो सभी विभक्तियों के लिए आवश्यक है अतः सबके अन्त में आधार का उल्लेख किया गया है। सातों विभक्तियों का यह क्रम किसी भी प्रकार से असङ्गत नहीं है। अनादि काल से यह क्रम चला आ रहा है।

मैं किसी प्रकार का पक्षपात नहीं करता। सातों ही वचन विभक्तियाँ मेरे ज्ञान में अखण्ड रूप से प्रकाशित हो रही हैं। जिस प्रकार एक ही व्यक्ति के हृदय में प्राकृत, संस्कृत, शौरसेनी आदि विभिन्न भाषाएँ और अनेकानेक पर्वत, वन, नगर आदि के दृश्य समानरूप से प्रतिबिम्बित होते हैं, ठीक उसी प्रकार सातों विभक्तियाँ मेरे ज्ञान में समानरूप से आदर का स्थान पाए हुए हैं।

मैं ज्ञान और वीर्य उपयोग से कर्ता हूँ। लोकालोक को देखना मेरा कर्म है। ज्ञान से देखना मेरा करण है। जिनके लिए मैं श्रुतज्ञान का उपदेश करता हूँ वे सम्प्रदान हैं। आत्म-विकास के लिए देखना भी सम्प्रदान है। अनन्त ज्ञानशक्ति तभी उत्पन्न हो सकती है जबकि आत्मा से ज्ञानावरण का मल दूर हो जाय। मेरी आत्मा के ज्ञानावरण आदि कर्म दूर हो गये हैं अतः मैं अपादान हूँ। आत्मासे ज्ञानावरण आदि कर्म जब दूर हो गए तब केवलज्ञान और केवलदर्शन का आत्मा से सादि-अनन्त सम्बन्ध हो गया। इस दृष्टि से सम्बन्ध भी मुझ में है। जिस प्रकार आदर्श—दर्पण में पदार्थों का आकार प्रतिबिम्बित हो जाता है ठीक उसी प्रकार मेरे केवलज्ञान में अखिल लोका-लोक प्रतिबिम्बत हो रहे हैं। इस न्याय से आधार भी मैं हूँ।

मैंने किसी भी पक्षपात के बिना तुम सब को अपने यहाँ स्थान दे रक्खा है। सब की सब अपने अपने योग्य स्थान में समारूढ होवें। न किसी का अधिक मान है और न किसी का अपमान। सब बराबर हैं। जिस प्रकार एक पुरुष मस्तक से लेकर चरण पर्यन्त सब शारीरिक अवयवों को धारण किए हुए रहता

है और वे सब अवयव उसके ही कहलाते हैं, ठीक उसी प्रकार मैंने तुम सबको यथास्थान धारण किया हुआ है और तुम सब मेरी आज्ञानुवर्तिनी हो।

तुम्हारा आपस में विवाद क्यों ? तुम तो अन्य व्यक्तियों को संगठन का उपदेश देनेवाली हो। तुम्हारी विशेषता यह है कि तुम एक दूसरी की सहायता करनेवाली हो।

द्वितीया के स्थान में तृतीया विभक्ति हो जाती है। अक्षान् दीव्यते, अक्षैर्दीव्यते आदि प्रयोग इस बात के सूचक हैं।

द्वितीया के स्थान में कभी षष्ठी विभक्ति भी हो जाती है। शतं पणते, शतस्य पणते—इत्यादि उदाहरण द्वितीया और षष्ठी के प्रेम के जीवित प्रमाण हैं।

किं बहुना कर्ता में तृतीया विभक्ति होती है—चैत्रेण कृतम्। तृतीया में सप्तमी होती है—मघाभिः फलमोदनम्, मघासु फलमोदनम्। चतुर्थी में द्वितीया—पुष्पाणि स्पृहयति, पुष्पेभ्यः स्पृहयति। पाँचवीं में षष्ठी—दूरं ग्रामात्, दूरं ग्रामाणाम्। षष्ठी में तृतीया—सर्पिषो जानीते, सर्पिषा जानीते। सातवीं के स्थान पर षष्ठी—गवां स्वामी, गोषु स्वामी। कितने उदाहरण दिये जायँ। तुम सातों ही विभक्तियों का परस्पर प्रेम तथा सहयोग अतीव प्रशंसनीय है। व्यक्तिमात्र को यह तुम्हारे संगठन का आदर्श पारस्परिक प्रेम की ओर प्रेरित करनेवाला है[६३]।

---

६३ हेतौ हेत्वर्थैः सर्वाः प्रायः ॥१।३।१९५॥

हेतुर्निमित्तं कारणमिति पर्यायाः, तदर्थैर्योगे हेतौ अप्रधाने प्रायेण सर्वा विभक्त्यो भवन्ति। धनेन हेतुना, धनाय हेतवे, धनाद् हेतोः, धनस्य

तुम आपस में क्यों भेदभाव रखती हो? हेतु, निमित्त, कारण और प्रयोजन में तो तुम सातों ही का सहावस्थान कितना सुन्दर लगता है? जरा भी द्वन्द्व नहीं, जरा भी क्लेश नहीं। सब तरफ प्रेम ही प्रेम!

वचन-विभक्तियो! तुम्हारी अनुक्रमता बड़ी ही शृंखलाबद्ध है। यदि कहीं से शृङ्खला को तोड़ा जाय तो सारी परम्परा छिन्न-भिन्न हो जाती है। शृङ्खला के बिना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। यह विश्व भी शृङ्खलाबद्ध है। लोकस्थिति का वर्णन मैंने आठ प्रकार से किया है। आठ प्रकार की लोकस्थिति इतनी शृंखलाबद्ध है कि उसमें कुछ भी न्यूनाधिक्य नहीं कर सकते। यदि जरा भी न्यूनता और अधिकता की जाय तो लोकस्थिति गड़बड़ में पड़ जाय। किसी तरह की कोई व्यवस्था रहेगी ही नहीं।

गौतम गणधर ने एक बार मेरे पास आकर प्रश्न पूछा कि [६४]भगवन्! लोकस्थिति कितने प्रकार की है? मैंने बतलाया था

हेतोः, धने हेतौ वसति। कं हेतुं, केन हेतुना, कस्मै हेतवे, कस्माद्धेतोः, कस्य हेतोः, कस्मिन् हेतौ तिष्ठति? एवं निमित्तकारणप्रयोजनैरपि नेयम्। हेताविति किम्? कस्य हेतुः। हेत्वर्थैरिति किम्? केन वसति? प्रायः इति प्रयोगानुसरणार्थम्

६४ कतिविहाणं भंते! लोयट्ठिती पण्णत्ता? गोयमा! अट्ठविहा लोयट्ठिती पण्णत्ता, तंजहा—आगास पइट्ठिए वाए १, वायपइट्ठिए उदही २, उदहीपइट्ठिया पुढवी ३, पुढवीपइट्ठिया तसा थावरा पाणा ४, अजीवा जीव-पइट्ठिया ५, जीवा कम्मपइट्ठिया ६, अजीव जीवसंगहिया ७, जीवा कम्म-संगहिया ८॥ व्याख्याप्रज्ञप्ति श० १, उ० ६, सू० ५४॥

कि—लोकस्थिति आठ प्रकार की है। आकाश पर वायु प्रतिष्ठित है। वायु पर घनोदधि (जल) प्रतिष्ठित है। उदधि पर पृथिवी है। पृथिवी पर त्रस और स्थावर जीव हैं। पुद्गल जीवों के आश्रित हैं। जीव कर्मों के आश्रित हैं। अजीव, जीव संगृहीत हैं। जीव कर्म संगृहीत हैं। जीव संग्राहक है और जीव संग्राह्य है।

जिस प्रकार लोक स्थिति का आठ प्रकार से वर्णन है, ठीक उसी प्रकार सम्बोधन सहित आठ वचन विभक्तियों का भी मैंने विस्तार से वर्णन किया है। लोकस्थिति जैसी ही शृंखला वचन विभक्तियों की भी है:—

निद्देसे पढमा होइ, वित्तिया उवएसणे।
तइया करणंमि कया, चउत्थी संपयावणे ॥१॥

—निर्देश में प्रथमा, उपदेश में द्वितीया, करण में तृतीया और सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति होती है।

पंचमो य अवायाणे, छट्ठी ससामि-वायणे।
सत्तमी संनिहाणे य, अट्ठमी आमंतणी भवे ॥२॥

—अपादान में पञ्चमी, स्वस्वामि-सम्बन्ध में षष्ठी, आधार में सप्तमी, और आमन्त्रण में अष्टमी विभक्ति होती है।

तत्थ पढमा विभत्ती निद्देसे, सो इमो अहं वत्ति।
वित्तिया पुण उवएसे, भण कुणव, इमं वयं हवंति ॥३॥

—निर्देश में प्रथमा विभक्ति इस प्रकार है कि—अयं, सः, अहम्। उपदेश में द्वितीया—शास्त्रं पठ, कार्यं कुरु।

ततीया करणंमि कया, भणियं च कयं च तेण वा मए वा।
हंदि णमो साहाए, हवइ चउत्थी संपयाणंमि ॥४॥

—करण में तृतीया—मया कृतम्, त्वया कृतम्, मया पठितम्। सम्प्रदान में चतुर्थी—नमः स्वाहा, अर्हते नमः, अग्नये स्वाहा।

अवणम णिह एत्तो, इओ त्ति वा पंचमो अवादाणे।
छट्ठी तस्स इमस्स वा गयस्स वा सामि-सम्बन्धी ॥५॥

—अपादान में पञ्चमी विभक्ति होती है—एतस्माद् दूरं अपनय, इतो गृहाण। स्वस्वामि-सम्बन्ध में षष्ठी होती है—तस्य, अस्य, गतस्य।

हवइ पुण सत्तमी, तं इमंमि आहार कालभावे य।
आमंतणी भवे अट्ठमी उ जहा हे जुवाणे त ॥६॥

—आधार में सातवीं विभक्ति होती है। इसके आधार, काल और भाव के भेद से मुख्यतया तीन भेद हैं। आधार—अस्मिन् पर्वते वृक्षाः। काल—मधौ पिकाः कूजन्ति। भाव—चारित्रेऽवतिष्ठते। आमंत्रण में आठवीं विभक्ति होती है—हे युवन्! हे पुरुष!

अब अधिक कहने का कोई अर्थ नहीं है। तुम्हें इससे ही समझ लेना चाहिए। उक्त पद्धति से अनुयोगद्वार सूत्र के अष्ट नाम विषयक प्रकरण में और स्थानाङ्ग सूत्र के अष्टम स्थान में मैंने तुम सब का साथ ही उल्लेख किया है। मेरी दृष्टि तुम सब पर एक सी ही है। अतएव तुम सब आपस में बड़े प्रेम से रहो और अपने अपने योग्य स्थानों से ज्ञान का प्रकाश करती हुई संसार का उपकार करती रहो।

भगवान् महावीर के पवित्र और गम्भीर स्याद्वादमय उपदेश

को सुन कर विभक्ति रूप में अवस्थित भिक्षु बड़े ही प्रसन्न हुए। जिस प्रकार वर्षा की शीतल बूँदों से कदम्ब के फूल खिल जाते हैं, उसी प्रकार मुनियों के हृदय विकसित हो गए। विभक्ति सम्बन्धी समग्र अज्ञानता दूर हो गई और ज्ञान का प्रकाश अन्त-र्हृदय में जगमगाने लगा। तदनन्तर सातों ही विभक्ति स्वरूप मुनि भगवान् के चरणों में विधिपूर्वक वन्दना नमस्कार करके एकान्त स्थान में चले गए और विभक्ति सम्बन्धी श्रुतज्ञान की आराधना में तथा अन्य तपश्चरण में संलग्न होकर अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे।

उपसंहार

विभक्ति-संवाद लिखने का अभिप्राय यह है कि प्रस्तुत विषय के जिज्ञासु विद्यार्थी विभक्तियों के गंभीर ज्ञान को अपने अन्त-र्हृदय में लीन करने का प्रयत्न करे। जिस प्रकार नगरादि के अनेकानेक दृश्य हृत्पट पर अंकित हो जाते हैं, दीपकों की प्रभा एक दूसरी में लीन हो जाती है, दूध में मिश्री लीन हो जाती है, उसी प्रकार उक्त विभक्ति ज्ञान को भी अन्तर्लीन करना चाहिए। जो सज्जन विभक्ति ज्ञान प्राप्त कर सम्यक्श्रुत का अध्ययन करेंगे, वे सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र में लीन होकर शाश्वत सुखों के अधिकारी बनेंगे।

परिशिष्ट

टिप्पणों में दिए गए शाकटायनीय सूत्रों की हैमव्याकरण तथा पाणिनीय-व्याकरण के सूत्रों के साथ तुलना

१ स्वतन्त्रः कर्ता ॥

शाकटायनप्रक्रियासंग्रह पृ० ९७।

हैम०—स्वतन्त्रः कर्ता ॥ २।२।२ ॥

क्रियाहेतुः क्रियासिद्धौ स्वप्रधानो यः स कर्ता स्यात्। मैत्रेण कृतः।

पा०—स्वतन्त्रः कर्ता ॥१।४।५४॥ सिद्धा० कौ० सू० ५५९.

क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात्।

२ कर्तरि शप् ॥ ४।३।२० ॥

धातोः कर्तरि वर्तमाने श्लेले परतः मध्ये शप् प्रत्ययो भवति। धारयः।

हैम०—कर्त्तर्यनद्भ्यः शव् ॥ ३।४।७१ ॥

अदादिवर्जाद् धातोः कर्तरि विहिते शिति शव् स्यात् भवति। कर्त्तरीति किम्? पच्यते। अनद्भ्य इति किम्? अत्ति।

पा० कर्तरि शप् ॥ ३।१।६८ ॥ सिद्धा० कौ० सू० २१६७.

कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे धातोः शप् स्यात्। शपावितौ।

३ आमन्त्र्ये ॥ १।३।९९ ॥

आमन्त्र्यमाणेऽर्थे वर्तमानात् शब्दादेकद्विबहुषु स्वौजसो भवन्ति। हे देवदत्त! हे देवदत्तौ! हे देवदत्ताः।

हैम०—आमन्त्र्ये ॥ २।२।३२ ॥

आमन्त्र्यार्थवृत्तेर्नाम्नः प्रथमा स्यात्। हे देव! आमान्त्र्य इति किम्? राजा भव।

पा०—संबोधने च ॥ २।३।४७ ॥ सिद्धा० कौ० ५१३.

इह प्रथमा स्यात् । हे राम ।

४ एकद्विबहौ ॥ १।१।१८ ॥

एकत्वादिसंख्येऽर्थे वर्तमानाच्छब्दाद्यथासंख्यमेकद्विबहुषु सु औ जस् प्रत्यया भवन्ति । पुरुषः । पुरुषौ । पुरुषाः ।

हैम०—नाम्नः प्रथमैकद्विबहौ ॥ २।२।३१ ॥

एकद्विबहावर्थमात्रे वर्तमानान्नाम्नः परा यथासंख्यं सि-औ-जस्लक्षणा प्रथमा स्यात् । डित्थः, गौः, शुक्लः, कारकः, दण्डी ।

पा०—प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा ॥२।३।४६॥ सिद्धा० कौ० सू० ५३२.

.........वचनम् संख्या । एकः । द्वौ । बहवः । इहोक्तार्थत्वाद्विभक्तेर-प्राप्तौ वचनम् ।

६ योगे ॥ १।३।९३ ॥

यदित ऊर्ध्वमुपक्रामयिष्यामः तत्सन्नियोगे भवति ।

हैम०—समर्थः पदविधिः ॥ ७।४।१२२ ॥

समर्थपदाश्रयत्वात् समर्थः, पदसम्बन्धी विधिः पदविधिः, सर्वपदविधिः समर्थो ज्ञेयः । सामर्थ्यं च व्यपेक्षा, एकार्थीभावश्च । पदविधिस्तु समास-नामधातु–कृत्–तद्धितोपपदविभक्तियुष्मदस्मदादेश-प्लुतरूपः··· । धर्मश्रितः । पुत्रीयति । कुम्भकारः ।

पा०—समर्थः पदविधिः ॥ २।१।१ ॥ सिद्धा० कौ० सू० ६४७.

पदसम्बन्धी यो विधिः स समर्थाश्रितो बोध्यः ।

८ कर्मणि ॥ १।३।१०५ ॥

क्रियते इति कर्म तन्निर्वर्त्यं विकार्यं प्राप्यं, तस्मिन्नप्रधानेऽर्थे वर्तमाना-दमौट्शसो भवन्ति ।

हैम०—कर्तुर्व्याप्यं कर्म ॥ २।२ ३ ॥

कर्त्ता क्रियया यद्विशेषेणाप्तुमिष्यते तत्कारकं व्याप्यं कर्म च स्यात्। तत् त्रेधा—निर्वर्त्यं, विकार्यं, प्राप्यञ्च।

कर्मणि।२।२।४०।

नाम्नः कर्म्मणि द्वितीया स्यात्। तण्डुलान् पचति, रविं पश्यति, अजां नयति ग्रामं, गां दोग्धि पयः।

पा०—कर्मणि द्वितीया ॥ २।३।२ ॥ सिद्धा० कौ० सू० ५३७.

अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात्। हरिं भजति। अभिहिते तु कर्म्मणि 'प्रातिपदिकार्थमात्रे' इति प्रथमैव।

९ हा-धिक्-समया-निकषोपर्युपर्यध्यधोऽधोऽत्यन्तरान्तरेण तस्पर्यभिसर्वोभयैश्चाप्रधानेऽमौट्शस् ॥ १।३।१०० ॥

हाधिगादिभिस्तसन्तैश्च पर्यादिभिरव्ययैर्योगेऽप्रधानेऽर्थे वर्तमानादेकद्विबहुषु अमौट्शसः प्रत्यया भवन्ति। हा देवदत्तं वर्धते व्याधिः। धिग् देवदत्तमयशः प्रवृद्धम्। समया पर्वतं नदी। निकषा पर्वतं वनम्। उपर्युपरि ग्रामं ग्रामाः। अधोऽधो नरकं नरकाः। अति वृद्धन्तु कुरून् महद्बलम् अन्तरा निषधं नीलं च विदेहाः। अन्तरेण नीलं निषधं च विदेहाः। अन्तरेण पुरुषकारं न किञ्चित्। परितो ग्रामं, सर्वतो ग्रामं, उभयतो ग्रामं वनानि। अप्रधान इति किम्: प्रधाने न भवति। चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। 'बुभुक्षितं न प्रतिभाति किंचित्।'

हैम०—गौणात् समया-निकषा-हा धिक्-अन्तरा-अन्तरेण-अति-येन-तेनै-र्द्वितीया ॥ २।२।३३ ॥

द्वित्वेऽधोऽध्युपरिभिः ॥ २।२।३४ ॥

सर्वोभयाभिपरिणा तसा ॥ २।२।३५ ॥

समया ग्रामम्। निकषा गिरिं नदी। हा! मैत्रं व्याधिः। धिग् जाल्मम्। अन्तराऽन्तरेण च निषधं नीलं च विदेहा। अन्तरेण धर्म्मं सुखं न स्यात्।

अतिवृद्धं कुरुन् महद्बलम् । येन पश्चिमां गतः तेन पश्चिमां नीतः । **अधोऽधो** ग्रामम् । अध्यधि ग्रामम् । उपर्युपरि ग्रामं ग्रामाः, सर्वतः, **उभयतः अभितः,** परितो वा ग्रामम् ।

पा०—उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु ।
द्वितीयाऽऽम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥ (वा० १४४४)

उभयतः कृष्णं गोपाः । सर्वतः कृष्णम् । धिक् कृष्णाभक्तम् । उपर्युपरि लोकं हरिः । अध्यधि लोकं । अधोऽधो लोकम् ।

'अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' (वा० १४४२–१४४३)

अभितः कृष्णम् । परितः कृष्णम् । ग्रामं समया । निकषा लंकाम् । हा कृष्णाभक्तम् । तस्य शोच्यता इत्यर्थः । "बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित् ।"

१० टार्थेऽनुना ॥ १।२।१०३ ॥

हेत्वादि टार्थः तस्मिन्ननु इत्यनेन योगेऽप्रधानेऽर्थे एकद्विबहुषु अमौट्शसो भवन्ति । शान्तिपट्टकप्रसरणमनु प्रावर्षत् पर्जन्यः । तेन हेतुनेत्यर्थः । नदीमनुवसिता सेना ।

हैम०—हेतु-सहार्थेऽनुना ॥ २।२।३८ ॥

हेतुर्जनकः । सहार्थस्तुल्ययोगो विद्यमानता च, तद्विषयोऽप्युपचारात् । तयोर्वर्तमानादनुना युक्ताद् द्वितीया स्यात् ॥ जिनजन्मोत्सवमन्वागच्छन् सुराः, गिरिमन्ववसिता सेना ।

पा०—तृतीयार्थे ॥ १।४।८५ ॥ सिद्धा० कौ० सू० ५४९.

अस्मिन्द्योत्येऽनुरुक्तसंज्ञः स्यात् । नदीमन्ववसिता सेना ।

११ उत्कृष्टेनूपेन ॥ १।२।१०४ ॥

अनु उप इत्येताभ्यां युक्तेऽप्रधाने उत्कृष्टेऽधिकेऽर्थेवर्तमानादेकद्विबहुषु अमौट्शसो भवन्ति । अनुशाकटायनं वैयाकरणाः । उपविशेषवादिनं कवयः । तस्माद् हीना इत्यर्थः ।

हैम०—उत्कृष्टेऽनूपेन ॥ २।२।३९ ॥

उत्कृष्टार्थादनूपाभ्यां युक्ताद् द्वितीया स्यात्। अनुसिद्धसेनं कवयः। उपोमास्वातिं संग्रहीतारः।

पा०—हीने ॥१।४।८६ ॥ सिद्धा० कौ० सू० ५५०।

हीने द्योत्येऽनुः प्राग्वत्। अनु हरिं सुराः। हरेर्हीना इत्यर्थः।

उपोऽधिके च ॥ १।४।८७ ॥ सिद्धा० कौ० सू० ५५१।

अधिके हीने च द्योत्ये उपेत्यव्ययं प्राक्संज्ञं स्यात्। उप हरिं सुराः।

१२ स्मृत्यर्थदयीशां कर्म ॥ १।३।१११ ॥

स्मरणार्थानां धातूनां दयितेरीष्टेश्च यत्कर्म तत्कर्म वा भवति। मातुः स्मरति, मातरं स्मरति। मातुरध्येति, मातरमध्येति। सर्पिर्दयते, सर्पिषो दयते। लोकानामीष्टे, लोकानीष्टे।

हैम०—स्मृत्यर्थ-दयेशः ॥ २।२।११ ॥

स्मृत्यर्थानां दयेशोश्च व्याप्यं कर्म्म वा स्यात्। मातुः स्मरति। मातरं स्मरति। मातुः स्मर्यते। माता स्मर्यते। सर्प्पिषः सर्प्पिर्वा दयते, लोकानामीष्टे, लोकानीष्टे।

पा०—अधीगर्थदयेशां कर्म्मणि ॥२।३।५२॥ सिद्धा० कौ० ६१३।

एषां कर्म्मणि शेषे षष्ठी स्यात्। मातुः स्मरणम् सर्प्पिषोदयनं, ईशनं वा॥

१३ शीङ्स्थासोऽधेराधारः ॥ १।३।१२२ ॥

अधिपूर्वाणां शीङ् स्था आस् इत्येतेषां य आधारः क्रियाश्रयस्य कर्तुः कर्मणो वा धारणात् अधिकरणं तत् कर्म भवति। ग्राममधिशेते। ग्राममधितिष्ठति। ग्राममध्यास्ते। अधेरिति किम्? ग्रामे शेते। पर्वते तिष्ठति। नद्यामास्ते।

हैम० अधेः शीङ्स्थाऽऽस आधारः ॥ २।२।२० ॥

अधेः सम्बद्धानां शीङ्स्थाऽऽसामाधारः कर्म्म स्यात्। ग्राममधिशेते, अधितिष्ठति, अध्यास्ते वा।

पा० अधिशीङ्स्थासां कर्म । १।४।४६ । सि० कौ० सू० ५४२ ॥

अधिपूर्वाणामेषामाधारः कर्म स्यात् । अधिशेते-अधितिष्ठति-अध्यास्ते-वा वैकुण्ठं हरिः ।

१४ वसोऽनूपाध्याङः ॥१।२।१२६॥

अनु उप अधि आङ् इत्येतत्पूर्वस्य वसतेर्य आधारः तत्कर्म भवति । ग्राममनुवसति । ग्राममुपवसति । ग्राममधिवसति । ग्राममावसति ।

हैम० उपान्वध्याङ्वसः ॥ २।२।२१ ॥

उपादिविशिष्टस्य वसतेराधारः कर्म्म स्यात् । ग्राममुपवसति, अनुवसति, अधिवसति, आवसति ।

पा० उपान्वध्याङ्वसः ।१।४।४८ ॥ सि० कौ० सू० ५४४ ॥

उपादिपूर्वस्य वसतेराधारः कर्म स्यात् । उपवसति-अनुवसति-अधिवसति-आवसति वा वैकुण्ठं हरिः ।

१५ कालाध्वनोर्व्याप्तौ ॥ १।२।१२६ ॥

काले अध्वनि चाप्रधाने वर्तमानात् व्याप्तौ अमौट्शसो भवन्ति । मासं गुडापूपाः । मासमधीते । क्रोशं कुटिला नदी । व्याप्ताविति किम् ? मासेऽधीते । मासस्याधीते । क्रोशेऽधीते । क्रोशस्याधीते ।

हैम० कालाध्व-भाव-देशं वाऽकर्म्म चाकर्म्मणाम् ॥ २।२।२३ ॥

कालादिराधारेऽकर्मणां धातूनां योगे कर्म्माकर्म्म च युगपद्वा स्यात् । मासमास्ते, क्रोश शेते, गोदोहमास्ते, कुरूनास्ते । पक्षे-मासे आस्ते इत्यादि । अकर्म चेति किम् ? मासमास्यते । अकर्मणामिति किम् ? रात्रावुद्देशोऽधीतः ।

पा० 'अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसंज्ञक इति वाच्यम्' (वा० ११०३-११०४) ।

कुरून् स्वपिति । मासमास्ते । गोदोहमास्ते । क्रोशमास्ते ।

पा० कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे ।२।३।५ ॥ सि० कौ० सू० ५५८॥

इह द्वितीया स्यात् । मासं कल्याणी । मासमधीते । मासं गुडधानाः ।

क्रोशं कुटिला नदी। क्रोशमधीते। क्रोशं गिरिः। अत्यन्त संयोगे किम्। मासस्य द्विरधीते। क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः।

११ नित्याकर्मकगमिज्ञाद्यर्थशब्दकर्मदृशोऽखादादिक्रन्दशब्दायह्वः ॥ १।३।११८ ॥

नित्यमकर्मकेभ्यः गमेर्ज्ञानातेरदेशश्चार्थो येषां तेभ्यः शब्दकर्मभ्यः शब्दनक्रियेभ्यः शब्दार्थेभ्यः दृशित्येतस्माच्च धातोर्यो णिस्तस्य कर्म नित्यं कर्म भवति खादादि क्रन्द शब्दायह्व इत्येतान् वर्जयित्वा। आसयति देवदत्तम्। शाययति देवदत्तम्। गमयति माणवकं ग्रामम्। यापयति माणवकं ग्रामम्। ज्ञापयति माणवकं धर्मम्। बोधयति माणवकं धर्मम्। भोजयति माणवकमोदनम्। आशयति माणवकमोदनम्। शब्दनक्रियेभ्यः— विलापयति देवदत्तं पुत्रम्। आभाषयति देवदत्तं गुरुम्। शब्दार्थेभ्यः— श्रावयति देवदत्तं शास्त्रम्। उपलम्भयति देवदत्तं विद्याम्। दृश्—दर्शयति रूपतर्कं कार्षापणम्।

हैम० गति-बोधाहारार्थ-शब्दकर्मनित्याऽकर्मणामनीखाद्यदिह्वाशब्दाय-क्रन्दाम् ॥ २।२।५ ॥

गतिर्देशान्तरप्राप्तिः। शब्दः कर्मक्रिया व्याप्यश्च येषां ते शब्द कर्माणः। नित्यं न विद्यते कर्म येषां ते नित्याकर्माणः। गत्यर्थबोधार्थाहारार्थानां शब्दकर्मणां नित्याकर्मणाञ्च नीखाद्यदि ह्वाशब्दायक्रन्दिवर्जानां धातूनामणिक्कर्ता स णौ सति कर्म स्यात्। गमयति चैत्रं ग्रामम्, बोधयति शिष्यं धर्म्मम्, भोजयति बटुमोदनम्, जल्पयति मैत्रं द्रव्यम्, अध्यापयति बटुं वेदम्। शाययति मैत्रं चैत्रः। गत्यर्थादीनामिति किम्? पाचयत्योदनं चैत्रेण मैत्रः। न्यादिवर्ज्जनं किम्? नाययति भारं चैत्रेण, खादयत्यपूपं मैत्रेण, आदयत्योदनं सुतेन, ह्वाययति चैत्रं मैत्रेण, शब्दाययति बटुं मैत्रेण क्रन्दयति मैत्रं चैत्रेण।

पा० गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ ॥१।४।५२॥ सिद्धा० कौ० सू० ५४०।

गत्याद्यर्थानां शब्दकर्मणामकर्मकाणां चाणौ यः कर्ता स णौ कर्म स्यात्।

गति—इत्यादि किम्। पाचयत्योदनं देवदत्तेन। अण्यन्तानां किम्। गमयति देवदत्तो यज्ञदत्तं, तमपरः प्रयुङ्क्ते, गमयति देवदत्तेन यज्ञदत्तं विष्णुमित्रः।

नीवह्योर्न वा० ११०९। नाययति, वाहयति वा भारं भृत्येन।

नियन्तृकर्तृकस्य वहेरनिषेधः वा० १११०। वाहयति रथं वाहान्सूतः।

आदिखाद्योर्न वा० ११०९। आदयति, खादयति वा अन्नं बटुना।

भक्षेरहिंसार्थस्य न वा० ११११। भक्षयत्यन्नं बटुना। अहिंसार्थस्य किम्। भक्षयति बलीवर्दान्सस्यम्।

जल्पतिप्रभृतीनामुपसंख्यानम् वा० ११०७। जल्पयति, भाषयति वा धर्मं पुत्रं देवदत्तः।

दृशेश्च वा० ११०८। दर्शयति हरिं भक्तान्। सूत्रे ज्ञानसामान्यार्थानामेव ग्रहणं, न तु तद्विशेषार्थानामित्यनेन ज्ञाप्यते। तेन स्मरति जिघ्रति इत्यादीनां न। स्मारयति घ्रापयति वा देवदत्तेन।

शब्दायतेर्न वा० ११०५। शब्दाययति देवदत्तेन। धात्वर्थसंगृहीतकर्मत्वेनाकर्मकत्वात्प्राप्तिः। येषां देशकालादिभिन्नं कर्म न संभवति तेऽत्राकर्मकाः। न त्वविवक्षितकर्माणोऽपि। 'तेन मासमासयति देवदत्तम्' इत्यादौ कर्मत्वं भवति। 'देवदत्तेन पाचयति' इत्यादौ तु न।

१७ हेतुकर्तृकरणेत्थंभूतलक्षणे ॥ १।२।१२८ ॥

फलसाधनयोग्यः पदार्थो हेतुः। यः करोति स कर्ता। येन क्रियते तत्करणम्। इमं कञ्चित् प्रकारमापन्नः इत्थंभूतः, स लक्ष्यते येन तदित्थंभूतलक्षणम्। एतस्मिन् विषये वर्तमानात् टाभ्यांभिसो भवन्ति। हेतौ—धनेन कुलम्। विद्यया यशः। कर्तरि—देवदत्तेन कृतम्। जिनदत्तेन भुक्तम्। करणे—दात्रेण लुनाति। परशुना छिनत्ति। इत्थंभूतलक्षणे—अपि

भवान् कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीत् ? अपि च भवानवदातेन वर्णेन कुमारी-मैक्षिष्ट ?

हैम०—हेतु-कर्तृ-करणेत्थम्भूतलक्षणे ॥ २।२।४४ ॥

फलसाधनयोग्यो हेतुः। कश्चित्प्रकारमापन्नस्य चिह्नं इत्थम्भूतलक्षणम्। हेत्वादिवृत्तेर्नाम्नस्तृतीया स्यात्। धनेन कुलम्। चैत्रेण कृतम्। दात्रेण लुनाति। अपि त्वं कमण्डलुना च्छात्रमद्राक्षीः ?

पा० हेतौ।२।३।२३ ॥ सि० कौ० सू० ५६८ ॥

हेत्वर्थे तृतीया स्यात्। द्रव्यादि साधारणं निर्व्यापारसाधारणं च हेतुत्वम्। करणत्वं तु क्रियामात्रविषयं व्यापारनियतं च। दण्डेन घटः। पुण्येन दृष्टो हरिः। फलमपीह हेतुः। अध्ययनेन वसति।

कर्तृकरणयोस्तृतीया ॥ २।३।१८ ॥ सि० कौ० सू० ५६१।

अनभिहिते कर्तरि करणे च तृतीया स्यात्। रामेण बाणेन हतो बाली।

इत्थंभूतलक्षणे ॥ २।३।२१ ॥ सि० कौ० सू० ५६६।

कश्चित्प्रकारं प्राप्तस्य लक्षणे तृतीया स्यात्। जटाभिस्तापसः। जटा-ज्ञाप्यतापसत्वविशिष्ट इत्यर्थः।

२० टाभ्यांभिस्सिद्धौ ॥ १।१।१२७ ॥

सिद्धौ क्रियानिष्पत्तौ द्योत्यायां कालवाचिनोऽध्ववाचिनश्च शब्दात् व्याप्तौ एकद्विबहुषु टाभ्यांभिस इत्येते यथासंख्यं प्रत्ययाः भवन्ति। मासेन, मासाभ्यां, मासैर्ज्योतिषमधीतम्। योजनेन, योजनाभ्यां, योजनैः वैद्यमधीतम्।

हैम०—सिद्धौ तृतीया ॥ २।२।४३ ॥

सिद्धौ फलनिष्पत्तौ, द्योत्यायां कालाध्ववाचिभ्यां टाभ्यां–भिस्लक्षणा तृतीया यथासंख्यमेक-द्विबहौ स्यात्। मासेन मासाभ्यां मासैर्वा आवश्यकम-धीतम्। क्रोशेन क्रोशाभ्यां क्रोशैर्वा प्राभृतमधीतम्। सिद्धाविति किम् ? मासमधीत आचारो नानेन गृहीतः।

पा० अपवर्गे तृतीया ।२।३।६ ॥ सि० कौ० सू० ५६३ ॥

अपवर्गः फलप्राप्तिः, तस्यां द्योत्यायां कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे तृतीया स्यात् । अह्ना क्रोशेन वा अनुवाकोऽधीतः । अपवर्गे किम् । मासमधीतो नायातः ।

२१ सहार्थेन ॥ १।३।१२९ ॥

सहार्थस्तुल्ययोगो विद्यमानता च, तेन युक्तेऽर्थे वर्तमानात् टाभ्यांभिसो भवन्ति । पुत्रेण सह स्थूलः सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी ।

हैम०—सहार्थे ॥ २।२।४५ ॥

सहार्थे तुल्ययोगे विद्यमानतायां च गम्यमाने नाम्नः तृतीया स्यात् । पुत्रेण सहागतः, स्थूलो गोमान् ब्राह्मणो वा ।

पा० सहयुक्तेऽप्रधाने ।२।३।१९ ॥ सिद्धा० कौ० सू ५६४ ॥

सहार्थेन युक्तेऽप्रधाने तृतीया स्यात् । पुत्रेण सहागतः पिता । एवं साकं सार्धं समंयोगेऽपि ।

२२ प्रसितावबद्धोत्सुकैः ॥ १।३।१३२ ॥

प्रसितादिभिर्युक्ते आधारे टाभ्यांभिसो भवन्ति । केशैः प्रसितः, केशेषु वा प्रसितः । केशैरवबद्धः, केशेषु अवबद्धः । केशैरुत्सुकः, केशेषूत्सुकः ।

हैम० प्रसितोत्सुकावबद्धैः ॥ २।२।४९ ॥

एतैर्युक्तादाधारवृत्तेस्तृतीया वा स्यात् । केशैः, केशेषु वा प्रसितः । गृहेण, गृहे वा उत्सुकः । केशैः केशेषु वा अवबद्धः ।

पा० प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च । २।३।४४ ॥ सि० कौ० नं० ६४१ ॥

आभ्यां योगे तृतीता स्यात् चात्सप्तमी । प्रसित उत्सुको वा हरिणा हरौ वा ।

२३ काले भाद्वाधारे १।३।१३१ ।

काले वर्तमानान्नक्षत्रवाचिनः शब्दादाधारे टाभ्यांभिसो वा भवन्ति । पुष्येण पायसमश्नीयात्, पुष्ये पायसमश्नीयात् ।

हैम०—काले भात् नवाऽऽधारे ॥ २।२।४८ ॥

कालवृत्तेर्नक्षत्रार्थादाधारे तृतीया वा स्यात्। पुष्येण पुष्ये वा पायसमश्नीयात्। काल इति किम्? पुष्येऽर्कः। भादिति किम्। तिलपुष्पेषु यत्क्षीरम्। आधार इति किं? अद्य पुष्यं विद्धि।

पा० नक्षत्रे च लुपि। २।३।४५ ॥ सि० कौ० सू० ६४२ ॥

नक्षत्रे प्रकृत्यर्थे योलुप्संज्ञया लुप्यमानस्य प्रत्ययस्यार्थस्तत्र वर्तमानात्तृतीयासप्तम्यौ स्तोऽधिकरणे। मूलेनावाहयेद्देवीं श्रवणेन विसर्जयेत्। मूले श्रवणे इति वा। लुपि किम्। पुष्ये शनिः।

२४ समो ज्ञोऽस्मृतौ चाप्ये ॥ १।३।१३ ॥

संपूर्वस्य जानातेरस्मृतौ वर्तमानस्य यदाप्यं प्राप्यं कर्म तत्र टा भ्याम् भिसो वा भवन्ति। मात्रा संजानीते, मातरं संजानीते। अस्मृताविति किम्? मातरं संजानाति, मातुः संजानाति। स्मरतीत्यर्थः।

हैम०—समो ज्ञोऽस्मृतौ वा ॥ २।२।५१ ॥

अस्मृत्यर्थस्य सञ्जानातेर्यद्व्याप्यं तद्वृत्तेस्तृतीया वा स्यात्। मात्रा मातरं वा सञ्जानीते। अस्मृताविति किम्? मातरं सञ्जानाति।

पा० संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि। २।३।२२ ॥ सि० कौ० नं० ५६७ ॥

सम्पूर्वस्य जानातेः कर्मणि तृतीया वा स्यात्। पित्रा पितरं वा संजानीते।

२५ यद्भेदैस्तद्वदाख्या ॥ १।३।१३० ॥

यस्य भेदिनः प्रकारवतोऽर्थस्य भेदैः प्रकारैः विशिष्टः तद्वतः तत्प्रकारवदर्थकस्य आख्या भवति। ततः टा भ्याम् भिसो भवन्ति। अक्ष्णा काणः। पादेन खञ्जः। प्रकृत्या दर्शनीयः। जात्या ब्राह्मणः।

हैम० यद्भेदैस्तद्वदाख्या ॥ २।२।४६ ॥

यस्य भेदिनो भेदैः प्रकारैस्तद्वतोऽर्थस्याख्या निर्देशः स्यात् तद्वाचिनस्तृतीया स्यात्। अक्ष्णा काणः, पादेन खञ्जः, प्रकृत्या दर्शनीयः, तद्वद्ग्रहणं

किम् ? अक्षिकाणं पश्य । आख्येति प्रसिद्धिपरिग्रहार्थम्, तेनाक्ष्णा दीर्घ इति न स्यात् ।

पा० येनाङ्गविकारः ।२।३।२० ॥ सि० कौ० सू० ५६५ ॥

येनाङ्गेन विकृतेनांगिनो विकारो लक्ष्यते ततः तृतीया स्यात् । अक्ष्णा काणः । अक्षिसम्बन्धिकाणत्वविशिष्ट इत्यर्थः । अङ्गविकारः किम् । अक्षि काणमस्य ।

२६ ङेभ्यांभ्यस् ॥ १।३।१३५ ॥

देयैराप्येऽप्रधानेऽर्थे वर्तमानादेकद्विबहुषु यथासंख्यं ङे भ्यां भ्यस् प्रत्ययाः भवन्ति ।

है० चतुर्थी ॥२।२।५३॥

सम्प्रदाने वर्तमानादेक-द्वि बहौ यथासंख्यं ङे-भ्यां-भ्यस्लक्षणा चतुर्थी स्यात् । द्विजाय गां दत्ते, पत्ये शेते ।

कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् ॥१।४ ३२॥ सि०कौ०सू० ५६९ ॥

दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानसंज्ञः स्यात् ।

पा० चतुर्थी संप्रदाने ।२।३।१३ ॥ सि० कौ० सू० ५७० ॥

विप्राय गां ददाति । अनभिहित इत्येव । दीयतेऽस्मै दानीयो विप्रः ।

२८ शक्तार्थवषड्नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाहितैः ॥ १।३।१४२ ॥

शक्तार्थैर्वषडादिभिश्च योगेऽप्रधानेऽर्थे वर्तमानाद् ङेभ्यांभ्यसो भवन्ति । शक्तः शक्नोति, प्रभुः प्रभवति जिनदत्तो देवदत्ताय । अलं मल्लो मल्लाय । वषडग्नये । नमोऽर्हद्भ्यः । स्वस्ति प्रजाभ्यः । इन्द्राय स्वाहा । स्वधा पितृभ्यः । आतुराय हितम् ।

है० शक्तार्थ-वषड्-नमः स्वस्ति-स्वाहा-स्वधाभिः ॥ २।२।६८ ॥

शक्तार्थैर्वषडादिभिश्च युक्ताच्चतुर्थी नित्यं स्यात् । शक्तः प्रभुर्वा मल्लो मल्लाय, वषडग्नये । नमोऽर्हद्भ्यः । स्वस्ति प्रजाभ्यः । स्वाहेन्द्राय । स्वधा पितृभ्यः ।

पा० नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च ॥२।३।१६॥ सि० कौ० सू० ५८३ ॥

एभिर्योगे चतुर्थी स्यात्। हरये नमः। नमस्करोति देवान्। प्रजाभ्यः स्वस्ति। अग्नये स्वाहा। पितृभ्यः स्वधा।

२९ भद्रायुष्यक्षेमसुखार्थहितार्थहितैराशिषि ॥ १।३।१४१ ॥

भद्राद्यर्थैर्हितशब्देन च योगेऽप्रधानेऽर्थे वर्तमानादाशीर्विषये ङेभ्यांभ्यसो भवन्ति। भद्रमस्तु जिनशासनाय। भद्रमस्तु जिनशासनस्य। एवं भद्रं कल्याणं आयुष्यं दीर्घमायुः चिरंजीवितमस्तु देवदत्ताय देवदत्तस्य वा। क्षेमं कुशलं निरामयं भूयात् संघाय संघस्य वा। सुखं शर्म शं भवतात् प्रजाभ्यः प्रजानां वा। अर्थः प्रयोजनं कार्यं जायतां दूताय दूतस्य वा। हितं पथ्यं भूयात् जिनदत्ताय जिनदत्तस्य वा। हितग्रहणमाशिषि पक्षे षष्ठ्यर्थम्। अस्येवोत्तरेण चतुर्थी।

है० तद्भद्राऽऽयुष्य-क्षेमार्थाऽर्थेनाऽऽशिषि ॥ २।२।६६ ॥

तदिति हितसुखयोः परामर्शः। हिताद्यर्थैर्युक्तादाशिषिगम्यायां चतुर्थी वा स्यात्। हितं पथ्यं वा जीवेभ्यो जीवानां वा भूयात्। सुखं शं शर्म्म वा प्रजाभ्यः प्रजानां वा भूयात्, आयुष्यमस्तु चैत्राय चैत्रस्य वा। अर्थः कार्यं प्रयोजनं वा भूयान्मैत्राय मैत्रस्य वा।

है० हितसुखाभ्याम् ॥ २।२।६५ ॥

आभ्यां युक्ताच्चतुर्थी वा स्यात्। आमयाविने आमयाविनो वा हितम्। चैत्राय चैत्रस्य वा सुखम्।

पा० चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः ॥ २।३।७३ ॥ सिद्धा० कौ० ६३१ ॥

एतदर्थैर्योगे चतुर्थी वा स्यात्, पक्षे षष्ठी। आशिषि आयुष्यं चिरञ्जीवितं कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात्। एवं मद्रं, भद्रं, कुशलं, निरामयं, सुखं, शम्. अर्थः, प्रयोजनं, हितं, पथ्यं वा भूयात्।

२० स्थानिवुणः ॥ १।२।१२६ ॥

यस्यार्थः प्रतीयते न च प्रयोगः स स्थानी । क्रियायां तदर्थायां वुण् ल्टट् च इति वुणो विहितस्तदन्तस्य स्थानिनो धातोराप्ये कर्मणि ङेभ्यांभ्यसो भवन्ति । एधेभ्यो व्रजति ? पाकाय व्रजति । स्थानीति किम् ? एधानाहारको व्रजति । पाकं कारको व्रजति ।

है० गम्यस्याऽऽप्ये ॥ २।२।६२ ॥

यस्यार्थो गम्यते न चासौ प्रयुज्यते स गम्यः । गम्यस्य तुमो व्याप्ये वर्तमानाच्चतुर्थी स्यात् । एधेभ्यः फलेभ्यो वा व्रजति । गम्यस्येति किम् ? एधानाहर्तुं याति ।

पा० क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः ॥२।३।१४ सि० कौ० सू० ५६१ ॥

क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य तस्य स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्य तुमुनः कर्मणि चतुर्थी स्यात् । फलेभ्यो याति । फलान्याहर्तुं यातीत्यर्थः । नमस्कुर्मो नृसिंहाय, नृसिंहमनुकूलयितुमित्यर्थः । एवं स्वयंभुवे नमस्कृत्य, इत्यादावपि ।

२१ क्रुद्द्रुहेर्ष्याऽसूयार्थैर्यं प्रति कोपो न च कर्म ॥ १।२।१२७ ॥

अमर्षकृत् क्रोधः । अपचिकीर्षा द्रोहः । अक्षमा ईर्ष्या । गुणेषु दोषाविष्करणमसूया । एतदर्थैर्धातुभिर्योगे यं प्रति कोपस्तस्मिन् वर्तमानात् ङेभ्यांभ्यसो भवन्ति न च तत्कर्म भवति । देवदत्ताय क्रुध्यति । जिनदत्ताय कुप्यति । देवदत्ताय द्रुह्यति । देवदत्ताय ईर्ष्यति । देवदत्तायासूयति ।

है० क्रुद्द्रुहेर्ष्याऽसूयार्थैर्यं प्रति कोपः ॥ २।२।२७ ॥

क्रुधाद्यर्थैर्धातुभिर्योगे यं प्रति कोपस्तत् सम्प्रदानं स्यात् । मैत्राय क्रुध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति वा । यं प्रतीति किम् ? मनसा क्रुध्यति । कोपः इति किम् ? शिष्यस्य कुप्यति विनयार्थम् ।

पा० क्रुधद्रुहेर्ष्याऽसूयार्थानां यं प्रति कोपः ॥ १।४।३७ ॥ सि० कौ० सू० ५७५ ।

क्रुधाद्यर्थानां प्रयोगे यं प्रति कोपः सः उक्तसंज्ञः स्यात् । हरये क्रुध्यति,

द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति वा। यं प्रति कोपः किम्? भार्यामीर्ष्यति, मैनामन्यो द्राक्षीदिति। क्रोधोऽमर्षः। द्रोहोऽपकारः। ईर्ष्या अक्षमा। असूया गुणेषु दोषाविष्करणम्। द्रोहादयोऽपि कोपप्रभवा एव गृह्यन्ते।

३२ स्पृहेर्वा ॥ १।२।१२९ ॥

स्पृहेर्धातोः कर्मणि वर्तमानाच्चतुर्थी वा भवति। धर्माय स्पृहयति, धर्मं स्पृहयति।

है० स्पृहेर्व्याप्यं वा ॥ २।२।२६ ॥

स्पृहेर्व्याप्यं वा संप्रदानं स्यात्। पुष्पेभ्यः पुष्पाणि वा स्पृहयति।

पा० स्पृहेरीप्सितः ॥ १।४।३६ ॥ सि० कौ० सू० ५७४ ॥

स्पृहयतेः प्रयोगे इष्टः सम्प्रदानं स्यात्। पुष्पेभ्यः स्पृहयति। ईप्सितः किम्। पुष्पेभ्यो वने स्पृहयति। ईप्सितमात्रे इयं संज्ञा। प्रकर्षविवक्षायां तु परत्वात् कर्मसंज्ञा, पुष्पाणि स्पृहयति।

३३ मन्यस्याकाकादिषु यतोऽवज्ञा ॥ १।३।१४० ॥

यस्मादवज्ञा अन्यस्य विज्ञायते तस्मिन् काकादिवर्जिते मन्यतेराप्ये कर्मणि ङेभ्यांभ्यसो भवन्ति वा। न त्वा तृणाय मन्ये, न त्वा तृणं मन्ये। न त्वा शुने मन्ये, न त्वा श्वानं मन्ये। तृणादेरपि निकृष्टं मन्ये इत्यवजानाति। अकाकादिष्विति किम्? न त्वा काकं घूकं शृगालं मन्ये।

है० मन्यस्याऽनावादिभ्योऽतिकुत्सने ॥ २।२।६४ ॥

अतीव कुत्स्यते येन तदतिकुत्सनं। तस्मिन् मन्यतेर्व्याप्ये वर्तमानान्नावादिवर्जाच्चतुर्थी वा स्यात्। न त्वा तृणाय तृणं वा मन्ये। मन्यस्येति किम्? न त्वा तृणं मन्वे। अनावादिभ्य इति किम्? न त्वा नावं, अन्नं, शुकं, शृगालं, काकं वा मन्ये। कुत्सन इति किम्? न त्वा रत्नं मन्ये। करणाऽऽश्रयणं किम्? न त्वा तृणाय मन्ये। युष्मदो मा भूत्। अतीति किम्? त्वां तृणं मन्ये।

पा० मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु ॥ २।३।१७ ॥ सि० कौ० सू० ५८४।

प्राणिवर्जे मन्यतेः कर्मणि चतुर्थी वा स्यात् तिरस्कारे। न त्वां तृणं मन्ये तृणाय वा। श्यनानिर्देशात्तानादिकयोगे न। न त्वां तृणं मन्वे।

'अप्राणिष्वित्यपनीयनौकाकान्नशुकशृगालवर्जेष्विति वाच्यम्' (वा **१४६४**)।

तेन 'न त्वां नावं मन्ये' इत्यत्राऽप्राणित्वेऽपि चतुर्थी न। 'न त्वां शुने मन्ये' इत्यत्र प्राणित्वेऽपि भवत्येव।

३४ यदर्थम् ॥ १।३।१५० ॥

यत्प्रयोजनं किंचिद् विवक्ष्यते तस्मिन्नर्थे वर्तमानाद् ङेभ्यांभ्यसो भवन्ति। रथाय दारु। कुण्डलाय हिरण्यम्।

है० तादर्थ्ये ॥ २।२।५४ ॥

तस्मा इदं तदर्थम्। तद्भावे सम्बन्धविशेषे द्योत्ये च चतुर्थी स्यात्। यूपाय दारु, रन्धनाय स्थाली।

पा० तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या। (वा० १४५८)।

मुक्तये हरिं भजति।

३५ प्रत्याङः श्रवाभ्यर्थके ॥ १।३।१४४ ॥

प्रति आङ् इत्येताभ्यां परेण शृणोतिना युक्तेऽभ्यर्थके वर्तमानाद् ङेभ्यांभ्यसो भवन्ति। देवदत्ताय प्रतिशृणोति अभ्युपगच्छतीत्यर्थः।

है० प्रत्याङः श्रुवार्थिनि ॥ २।२।५६ ॥

प्रत्याङ्भ्यां परेण श्रुवायुक्तादर्थिन्यभिलाषुके वर्तमानाच्चतुर्थी स्यात्।

पा० प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता ॥ १।४।४० ॥ सि० कौ० सू० ५७८।

आभ्यां परस्य शृणोतेर्योगे पूर्वस्य प्रवर्तनारूपस्य व्यापारस्य कर्ता सम्प्रदानं स्यात्। विप्राय गां प्रतिशृणोति आशृणोति वा। विप्रेण मह्यं देहीति प्रवर्तितस्तं प्रतिजानीते इत्यर्थः।

३६ प्रत्यनोर्गृणाऽऽख्यातरि ॥ १।३।१४५ ॥

प्रत्यनु इत्येताभ्यां परेण गृशब्द इत्यनेन युक्ते आख्यातरि वर्तमानाद्-

ङेभ्यांभ्यसो भवन्ति। उपाध्यायाय प्रतिगृणाति, अनुगृणाति। उपाध्याये-नोक्तमनुब्रवीति।

है० प्रत्यनोर्गृणाऽऽख्यातरि ॥ २।२।५७ ॥

समानम्।

पा० अनुप्रतिगृणश्च ॥ १।४।४१ ॥ सि० कौ० नं० ५७९ ॥

आभ्यां गृणातेः कारकं पूर्वव्यापारस्य कर्तृभूतमुक्तसंज्ञं स्यात्। होत्रेऽनुगृणाति-प्रतिगृणाति वा। होता प्रथमं शंसति, तमध्वर्युः प्रोत्साहयतीत्यर्थः।

३७ श्लाघह्नुङ्स्थाशपां प्रयोज्ये ॥ १।३।१४८ ॥

श्लाघादिभिर्युक्ते प्रयोज्ये वर्तमानाच्चतुर्थी भवति। देवदत्ताय श्लाघते। स्वगुणादिकं धर्मं विज्ञापयितुमिच्छति इत्यर्थः। चैत्राय ह्नुते, छात्रेभ्यः तिष्ठते, मैत्राय शपते।

है० श्लाघह्नुस्था-शपां प्रयोज्ये ॥ २।२।६० ॥

समानम्।

पा० श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः ॥ १।४।३४ ॥ सि० कौ० नं० ५७२ ॥

एषां प्रयोगे बोधयितुमिष्टः सम्प्रदानं स्यात्। गोपीस्मरात्कृष्णाय श्लाघते, ह्नुते, तिष्ठते, शपते वा। ज्ञीप्स्यमानः किम्। देवदत्ताय श्लाघते पथि।

३८ रुचिक्लृप्यर्थधारिभिः प्रेयविकारोत्तमर्णेषु ॥ १।३।१४१ ॥

रुच्यर्थैर्धातुभिर्युक्ते प्रेये, क्लृप्यर्थैर्विकारे, धारिणा च उत्तमर्णे वर्तमानाच्चतुर्थी भवति। साधवे रोचते धर्मः। सदृशे स्वदते तत्त्वम्। श्लेष्मणे कल्पते दधि। वधाय जायते रागः। चैत्राय शतं धारयते मैत्रः।

है० रुचिकृप्यर्थ धारिभिः प्रेय-विकारोत्तमर्णेषु ॥ २।२।५५ ॥

रुच्यर्थैः कृप्यर्थैर्धारिणा च योगे यथासंख्यं प्रेय-विकारोत्तमर्णवृत्तेश्चतुर्थी स्यात्। मैत्राय रोचते धर्मः, मूत्राय कल्पते यवागूः, चैत्राय शतं धारयति।

पा० रुच्यर्थानां प्रियमाणः ॥ १।४।३३ ॥ सि० कौ० नं० ५७१ ॥

रुच्यर्थानां धातूनां प्रयोगे प्रीयमाणोऽर्थः सम्प्रदानं स्यात्। हरये रोचते

भक्तिः। अन्यकर्तृकोऽभिलाषो रुचिः। हरिनिष्ठप्रीतेर्भक्तिः कर्त्री। प्रीयमाणः किम्? देवदत्ताय रोचते मोदकः पथि।

पा० धारेरुत्तमर्णः ॥ १।४।३५ ॥ सि० कौ० नं० ५७३ ॥

धारयतेः प्रयोगे उत्तमर्ण उक्तसंज्ञः स्यात्। भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः। उत्तमर्णः किम्। देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे।

३९ उत्पातेन ज्ञाप्ये ॥ १।२।१४७ ॥

उत्पातेन ज्ञाप्ये वर्तमानाद् ङेभ्यांभ्यसो भवन्ति। श्लोकः—

वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी।
पीता वर्षाय विज्ञेया दुर्भिक्षाय सिता भवेत् ॥

वाताय ज्ञापयतीत्यर्थः।

है० उत्पातेन ज्ञाप्ये ॥ २।२।५९ ॥

उत्पात आकस्मिकं निमित्तम्। तेन ज्ञाप्ये वर्तमानाच्चतुर्थी स्यात्।

पा० उत्पातेन ज्ञापिते च (वा० १४६०)

वाताय कपिला विद्युत्।

४१ हेतौ गुणेऽस्त्रियाम् ॥ १।२।१५४ ॥

अस्त्रीलिंगे गुणे द्रव्याश्रिते पर्याये हेतौ वर्तमानादुङसिभ्यामुभ्यसो वा भवन्ति। जाड्याद् जाड्येन वा बद्धः। ज्ञानाद् ज्ञानेन वा मुक्तः। अस्त्रियामिति किम्? जडतया बद्धः। बुद्धया मुक्तः।

है० गुणादस्त्रियां नवा ॥ २।२।७७ ॥

अस्त्रीवृत्तेर्हेतुभूतगुणवाचिनः पञ्चमी वा स्यात्।

पा० विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् ॥ २।३।२५ ॥ सि० कौ० नं० ६०२ ॥

गुणेहेतावस्त्रीलिंगे पंचमी वा स्यात्। जाड्यात् जाड्येन वा बद्धः। गुणे किम्? धनेन कुलम्। अस्त्रियाम् किम्? बुद्धया मुक्तः। 'विभाषा' इति योगविभागादगुणेस्त्रियां च क्वचित्। धूमादग्निमान्। नास्ति घटोऽनुपलब्धेः।

४२ अपायेऽवधौ ॥ १।२।१५६ ॥

अपायो विभागः विश्लेषः। तस्मिन् विषये निर्दिष्टे प्रतीयमाने वा योऽव-

धिरप्रधानं तस्मिन् ङसिभ्यांभ्यसो भवंति। ग्रामादपैति। ग्रामादागच्छति। पर्वतादवरोहति। यवेभ्यां गां निवारयति। प्रतीयमानेऽर्थे कुसूलात्पचति, ततो गृहीत्वेत्यर्थः।

है० पञ्चम्यपादाने ॥ २।२।६९ ॥

अपादाने एक द्वि बहौ यथासंख्यं ङसिभ्यांभ्यस्लक्षणा पंचमी स्यात्। ग्रामाद् गोदोहाभ्यां वनेभ्यः वा आगच्छति।

पा० ध्रुवमपायेऽपादानम् ॥ १।४।२४ ॥ सि० कौ० नं० ५८६ ॥

अपायो विश्लेषः, तस्मिन्साध्ये। ध्रुवमवधिभूतं कारकमपादानं स्यात्।

अपादाने पञ्चमी ॥ २।३।२८ ॥ सि० कौ० नं० ५८७ ॥

ग्रामादायाति। धावतोऽश्वात्पतति। कारकं किम्? वृक्षस्य पर्णं पतति।

जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम् (वा० १०७९)

पापाज्जुगुप्सते, विरमति। धर्मात्प्रमाद्यति।

४३ ऋणे ॥ १।३।१५५ ॥

हेतौ ऋणे वर्तमानान्नित्यं ङसिभ्यांभ्यसो भवन्ति वा। शताद् बद्धः सहस्राद्बद्धः।

है० ऋणाद्धेतोः ॥ २।२।७६ ॥

हेतुभूतऋणवाचिनः पंचमी स्यात्। शताद्बद्धः हेतोरिति किम्? शतेन बद्धः।

पा० अकर्तर्यृणे पंचमी ॥ २।३।२४ ॥ सि० कौमु० नं० ६०१ ॥

कर्तृवर्जितं यदृणं हेतुभूतं ततः पंचमी स्यात्। शताद्बद्धः। अकर्तरि किम्। शतेन बन्धितः।

४४ ङसिभ्यांभ्यस्स्तोकाल्पकतिपयकृच्छ्रादसत्त्वे ॥ १।३।१५२ ॥

यतो द्रव्ये शब्दप्रवृत्तिः स पर्यायो गुणः सत्त्वं, तेनैन रूपेणोच्यमानमसत्त्वं, तस्मिन् करणे स्तोकादिभ्यः एकद्विबहुषु ङसिभ्यांभ्यसो भवन्ति वा। स्तोकात् स्तोकेन, अल्पात् अल्पेन, कतिपयात् कतिपयेन, कृच्छ्रात् कृच्छ्रेण मुक्तः। असत्त्व इति किम्? स्तोकेन विषेण हतः। अल्पेन शेथुना मुक्तः।

हे० स्तोकाल्प-कृच्छ्र-कतिपयादसत्त्वे करणे ॥ २।२।७९ ॥

समानम् ।

पा० करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य ॥ २।३।३३ ॥ सि० कौ० नं० ६०४ ॥

एभ्योऽद्रव्यवचनेभ्यः करणे तृतीयापंचम्यौ स्तः। स्तोकेन स्तोकाद्वा मुक्तः। द्रव्ये तु स्तोकेन विषेण हतः।

४५ आख्यातर्युपयोगे ॥ १।३।१५७ ॥

आख्याता प्रतिपादयिता। उपयोगो नियमपूर्वकं विद्याग्रहणम्। आख्यातरि वर्तमानादुपयोगे विषये ङसिभ्यांभ्यसो भवन्ति। उपाध्यायादधीते—आगमयति। आचार्याच्छृणोति—अधिगच्छति। उपयोग इति किम्? नटस्य शृणोति।

हे० आख्यातर्युपयोगे ॥ २।२।७३ ॥

समानम्।

पा० आख्यातोपयोगे ॥ १।४।२९ ॥ सि० कौ० नं० ५९१ ॥

नियमपूर्वकविद्यास्वीकारे वक्ता प्राक्संज्ञः स्यात्। उपाध्यायादधीते। उपयोगे किम्। नटस्य गाथां शृणोति।

४६ आङा ॥ १।३।१५८ ॥

अवधाविति वर्तते। आङा योगे अवधौ ङसिभ्यांभ्यसो भवन्ति। आपाटलीपुत्रात् वृष्टो देवः। आकुमारेभ्यो यशः शाकटायनस्य गतम्।

हे० आङाऽवधौ ॥ २।२।७० ॥

अवधिर्मर्यादा अभिविधिश्च। तद्वृत्तेराङा युक्तात् पंचमी स्यात्। आपाटलिपुत्राद् वृष्टो मेघः।

पा० आङ्मर्यादावचने ॥ १।४।८९ ॥ सि० कौ० नं० ५९७।

आङ्मर्यादायामुक्तसंज्ञः स्यात्। वचनग्रहणादभिविधावपि।

४७ वर्ज्येऽपपरिणा ॥ १।३।१५९ ॥

अपपरि इत्येताभ्यां युक्ते वर्ज्ये ङसिभ्यांभ्यसो भवन्ति। अपपाटलीपुत्राद् अपत्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः । तत्र गर्तान् वर्जयित्वेत्यर्थः । एवं परियोगेऽपि ।

है० पर्यपाभ्यां वर्ज्ये ॥ २।२।७१ ॥

वर्ज्ये वर्जनीयेऽर्थे वर्तमानात् पर्यपाभ्यां युक्तात् पञ्चमी स्यात् । परि अप वा पाटलिपुत्राद् वृष्टो मेघः । वर्ज्य इति किम् ? अपशब्दो मैत्रस्य ।

पा० पञ्चम्यपाङ्परिभिः ॥ २।३।१० ॥ सि० कौ० नं० ५९८ ।

एतैः कर्मप्रवचनीयैर्योगे पंचमी स्यात् । अपहरेः, परिहरेः संसारः । परिरत्र वर्जने । लक्षणादौ तु हरिंपरि । आमुक्तेःसंसारः । आ सकलाद्ब्रह्म ।

४७ प्रतिनिधि प्रतिदाने प्रतिना ॥ १।३।१६० ॥

प्रतिनिधौ प्रतिदाने च वर्तमानेन प्रतिना युक्ताद् ङसिभ्यांभ्यसो भवन्ति । प्रद्युम्नो वासुदेवात् प्रति, सदृश इत्यर्थः । तिलेभ्यः प्रतिमाषान् प्रयच्छति । तिलान् गृहीत्वामाषान् ददाति ।

है० यतः प्रतिनिधि-प्रतिदाने प्रतिना ॥ २।२।७२ ॥

प्रतिनिधिर्मुख्यसदृशोऽर्थः । प्रतिदानं गृहीतस्य विशोधनं । ते यतः स्यातां तद्वाचिनः प्रतिना योगे पंचमी स्यात् । प्रद्युम्नो वासुदेवात् प्रति । तिलेभ्यः प्रतिमाषानस्मै प्रयच्छति ।

पा० प्रतिनिधि प्रतिदाने च यस्मात् ॥ २।३।११ ॥ सि० कौ० नं० ६०० ।

अत्र कर्मप्रवचनीयैर्योगे पंचमी स्यात् । प्रद्युम्नः कृष्णात्प्रति । तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान् ।

४८ स्थानिव्यकर्माधारे ॥ १।३।१६१ ॥

स्थाने य्यादेशान्तेन युक्ते कर्मण्याधारे च ङसिभ्यांभ्यसो भवन्ति । प्रासादात्प्रेक्षते । आसनात्प्रेक्षते । स्थानिग्रहणं किम् ? प्रासादमारुह्य प्रेक्षते ।

है० गम्ययपः कर्माऽऽधारे ॥ २।२।७४ ॥

गम्यस्याप्रयुज्यमानस्य यबन्तस्य कर्माऽऽधारवाचिनः पंचमी स्यात् । प्रासादादासनाद्वा प्रेक्षते, गम्यग्रहणं किम् ? प्रासादमारुह्य शेते ।

पा० ल्यब्लोपेकर्मण्यधिकरणे च (वा० १४७४-१४७५) ।

प्रासादात्प्रेक्षते । आसनात्प्रेक्षते । प्रासादमारुह्य, आसने उपविश्य, प्रेक्षते इत्यर्थः । श्वशुराज्जिहेति श्वशुरं वीक्ष्येत्यर्थः ।

४९ प्रत्ययः कृतोऽषष्ठ्याः ॥ १।१।४१ ॥

इह यःकृतो विहितः स प्रत्ययसंज्ञो वेदितव्यः । अषष्ठ्याः षष्ठ्यन्तार्थः षष्ठी न चेत् स षष्ठ्यन्तार्थविहितो भवति । आगमो विकारो वेत्यर्थः ङी-राज्ञी । सु-औ-जस्-वृक्षः वृक्षौ वृक्षाः ।

परः ॥ १।१।४४ ॥

यः प्रत्ययः स प्रकृतेः पर एव भवति । वृक्षः वृक्षौ वृक्षाः ।

५० ङसोसाम् ॥ १।२।६३ ॥

अप्रधानेऽर्थे वर्तमानाद् एकद्विबहुषु यथासंख्यं ङस्ओसाम् इत्येते प्रत्ययाः भवन्ति योगे सम्बन्धे । राज्ञः पुरुषः । देवदत्तयोः पुत्रः ।

है० शेषे ॥ २।२।८१ ॥

कर्मादिभ्योऽन्यस्तदविवक्षारूपः स्वस्वामिभावादिसम्बन्धविशेषः शेष-स्तत्र षष्ठी स्यात् । राज्ञः पुरुषः, उपगोरपत्यम्, माषाणामश्नीयात् ।

पा० षष्ठी शेषे ॥ २।३।५० ॥ सि० कौ० नं० ६०६ ।

कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिसम्बन्धः शेषः, तत्र षठी स्यात् । राज्ञः पुरुषः । कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव । सतां गतम् । सर्पिषो जानीते । मातुः स्मरति एधोदकस्योपस्कुरुते । भजे-शम्भोश्चरणयोः । फलानां तृप्तः ।

५२ करणे ज्ञोऽज्ञाने ॥ १।३।१६५ ॥

जानातेर्ज्ञानार्थे वर्तमानस्य यत्करणं तस्मिन् ङसोसामो भवन्ति । ज्ञानमवबोधः । सर्पिषो जानीते, सर्पिषा करणभूतेन प्रवर्तत इत्यर्थः । अज्ञान इति किम् ? स्वरेण पुत्रं जानाति ।

है० अज्ञाने ज्ञः षष्ठी ॥ २।२।८० ॥

अज्ञानार्थस्य ज्ञो यत्करणं तद्वाचिन एक-द्वि-बहौ यथासंख्यं ङसोसांलक्षणः

षष्ठी नित्यं स्यात् । सर्प्पिषः, सर्प्पिषोः सर्प्पिषां वा जानीते । अज्ञान इति किम् ? स्वरेण पुत्रं जानाति । करण इत्येव । तैलं सर्प्पिषो जानाति ।

पा० ज्ञोऽविदर्थस्य करणे ॥ २।३।५१ ॥ सि० कौ० नं० ६१२ ॥

जानातेरज्ञानार्थस्य करणे शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी स्यात् । सर्पिषो ज्ञानम् ।

५३ क्तस्य सदाधारे ॥ १।३।१६७ ॥

सति वर्तमाने यः क्तः आधारे च तदन्तस्य धातोः कर्मणि कर्तरि च ङसोसामो भवन्ति । सति क्तः—राज्ञां मतः, राज्ञां पूजितः, प्रजानां कान्तः । आधारे क्तः—इदमोदनस्य भुक्तम् । इदं सक्तूनां पीतम्, इदमेषामासितम् ।

है० क्तयोरसदाधारे ॥ २।२।९१ ॥

सतोवर्तमानादाधाराच्चान्यत्रार्थे यौ क्तक्तवतू तयोः कर्मकर्त्रोः षष्ठी न स्यात् । कटः कृतो मैत्रेण, ग्रामं गतवान् । असदाधार इति किम् ? राज्ञां पूजितः । इदं सक्तूनां पीतम् ।

पा० क्तस्य च वर्तमाने ॥ २।३।६७ ॥ सि० कौ० नं० ६२५ ।

वर्तमानार्थस्य क्तस्य योगे षष्ठी स्यात् । राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा ।

अधिकरणवाचिनश्च ॥ २।३।६८ ॥ सि० कौ० नं० ६२६ ।

क्तस्य योगे षष्ठी स्यात् । इदमेषामासितं शयितं गतं भुक्तं वा ।

५४ कर्मणि गुणे ॥ १।३।१६९ ॥

उणादिवर्जितस्य कृतः कर्मणि गुणे ङसोसामो वा भवन्ति । नेता अश्वस्य स्रुघ्नम् । गुण इति किम ? नेताऽश्वस्य । कर्मान्तरापेक्षत्वं गुणत्वं, अप्रधानाधिकारादतो द्विकर्मकाणामिहोदाहरणम् ।

है० कर्म्मणि कृतः ॥ २।२।८३ ॥

कृदन्तस्य कर्मणि षष्ठी स्यात् । अपां स्रष्टा, गवां दोहः । कर्मणीति किम् ? शस्त्रेण भेत्ता, स्तोकं पक्ता । कृत इति किम् ? भुक्तपूर्वी ओदनम् ।

पा० कर्तृकर्मणोः कृति ॥ २।३।६५ ॥ सि० कौ० नं० ६२३ ।

कृद्योगे कर्तरि कर्मणि च षष्ठी स्यात् । कृष्णस्य कृतिः । जगतः कर्ता

कृष्णः । 'गुणकर्मणि वेष्यते' (वा० ५०४१) नेता अश्वस्य स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं वा । कृति किम् । तद्धिते मा भूत् । कृतपूर्वी कटम् ।

५५ आधारे ॥ १।३।१७६ ॥

क्रियाश्रयस्य कर्तुः कर्मणो वा यः आधारः अधिकरणं तस्मिन् ङ्योस्सुपो भवन्ति । आसने आस्ते । स्थाल्यां पचति । गङ्गायां घोषः । तिलेषु तैलम् । आकाशे शकुनयः । कृष्णा गोषु सम्पन्नक्षीरतमा, कृष्णा गवां सम्पन्नक्षीरतमा इति समुदायस्यैकदेशं प्रत्याधारभावविषयविवक्षायां सप्तमी । सम्बन्धविवक्षायां तु षष्ठी। यथा वृक्षे शाखा वृक्षस्य शाखा इति निर्धारणन्तु कृष्णेत्यादेः पदान्तरात्।

है० सप्तम्यधिकरणे ॥ २।२।९५ ॥

अधिकरणे एक-द्वि-बहौ यथासंख्यं ङ्योस्सुपरूपा सप्तमी स्यात् । कटे आस्ते, दिवि देवाः, तिलेषु तैलम् ।

पा० आधारोऽधिकरणम् ॥ १।४।४५ ॥ सि० कौ० नं० ६३२ ।

कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकमधिकरणसंज्ञः स्यात् ।

सप्तम्यधिकरणे च ॥ २।३।३६ ॥ सि० कौ० नं० ६३३ ।

अधिकरणे सप्तमी स्यात्, चकाराद्दूरान्तिकार्थेभ्यः । औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापकश्चेत्याधारस्त्रिधा । कटे आस्ते, स्थाल्यां पचति, मोक्षे इच्छास्ति, सर्वस्मिन्नात्मास्ति वनस्य दूरे अन्तिके वा ।

५६ हेतौ कर्मणा ॥ १।३।१७२ ॥

कर्मणा युक्ते हेतौ वर्तमानाद् ङ्योस्सुपो भवन्ति । तृतीयापवादः ।

> चर्मणि द्वीपिनं हन्ति, दन्तयोर्हन्ति कुंजरम् ।
> बालेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः ॥

है० तद्युक्ते हेतौ ॥ २।२।१०० ॥

तेन व्याप्येन युक्ते हेतौ वर्तमानात् सप्तमी स्यात् । चर्मणि द्वीपिनं इत्यादि । तद्युक्त इति किम् ? वेतनेन धान्यं लुनाति ।

पा० निमित्तात्कर्मयोगे (वा० १४९०)

निमित्तमिह फलम् । योगः संयोगसमवायात्मकः ।

चर्मणि द्वीपिनं इत्यादि ।

५७ साधुनिपुणेनार्चायाम् ॥ १।३।१७३ ॥

साधु निपुण इत्येताभ्यां युक्ते अर्चायां गम्यमानायां ङ्योस्सुपो भवन्ति । साधुर्देवदत्तो मातरि । निपुणो जिनदत्तः पितरि । अन्यत्रसाधुः मृत्यो राज्ञः । तत्त्वाख्याने न भवति ।

है० साधुना ॥ २।२।१०२ ॥

निपुणेन चार्चायाम् ॥ २।२।१०३ ॥

निपुण साधु शब्दाभ्यां युक्तादप्रत्यादौ सप्तमी स्यात्, अर्चायाम् । मातरि निपुणः साधुर्वा । अर्चायामिति किम् ? निपुणो मैत्रो मातुः । मातैवैनं निपुणं मन्यत इत्यर्थः । अप्रत्यादावित्येव ? निपुणो मैत्रो मातरं प्रति परि अनु अभि वा ।

पा० साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः ॥ २।३।४३ ॥ सि० कौ० नं० ६४० ।

आभ्यां योगे सप्तमी स्यादर्चायाम्, न तु प्रतेः योगे । मातरि साधुर्निपुणो वा । अर्चायाम् किम् ? निपुणो राज्ञो भृत्यः । इह तत्त्वकथने तात्पर्यम् । **'अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम्' (वा० १४९१)** । साधुर्निपुणो वा मातरं प्रति परि अनु वा ।

५८ स्वेशेऽधिना ॥ १।३।१७४ ॥

अधीत्यनेन योगे स्वे ईशितव्ये ईशे ईशितरि स्वामिनि चार्थे वर्तमानाद् ङ्योस्सुपो भवन्ति । स्वे—अधिमगधेषुश्रेणिकः । अध्यवन्तिषु प्रद्योतः । ईशे—अधिश्रेणिके मगधाः । अधिप्रद्योतेऽवन्तयः ।

है० स्वेशेऽधिना ॥ २।२।१०४ ॥

स्वे ईशितव्ये ईशे च वर्तमानादधिना युक्तात् सप्तमी स्यात् । अधिमगधेषु श्रेणिकः, अधिश्रेणिके मगधाः ।

पा० अधीरीश्वरे ॥ १।४।९७ ॥ सि० कौ० नं० ६४४ ।

स्वस्वामिसम्बन्धे अधि कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात् ।

यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी ॥ २।३।९ ॥ सि० कौ० नं० ६४५ ।

अत्र कर्मप्रवचनीय युक्ते सप्तमी स्यात् । उपपरार्धे हरेर्गुणाः । परार्धादधिका इत्यर्थः । ऐश्वर्ये तु स्वस्वामिभ्यां पर्यायेण सप्तमी । अधिभुवि रामः । अधिरामे भूः ।

५९ उपेनाधिकिनि ॥ १।३।१७५ ॥

उप इत्यधिकाधिकिसम्बन्धं द्योतयति । तेन युक्ते अधिकिनि ङ्योस्सुपो भवन्ति । उपखार्यां द्रोणः । उपनिष्के कार्षापणम् । द्रोणकार्षापणाभ्यामाधिकौ खारीनिष्कावित्यर्थः ।

है० उपेनाऽधिकिनि ॥ २।२।१०५ ॥

उपेन युक्तादधिकिनि वाचिनः सप्तमी स्यात् । उपखार्यां द्रोणः ।

पा० उपोऽधिके च ॥ १।४।८७ ॥ सि० कौ० नं० ५५१ ।

अधिके हीने च द्योत्ये उपेत्यव्ययं प्राक्संज्ञं स्यात् । अधिके, सप्तमी-वक्ष्यते । हीने, उपहरिं सुराः ।

६० सुजर्थैः काले वा ॥ १।३।१७७ ॥

सुचोऽर्थो येषां प्रत्ययानां तदन्तैर्युक्ते काले आधारे ङ्योस्सुपो भवन्ति । द्विरह्नि भुंक्ते । द्विरह्नो भुंक्ते, मासे पञ्चकृत्वो भुंक्ते, मासस्य पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते । बहुधाह्नि भुङ्क्ते, बहुधाह्नो भुङ्क्ते । आधार इति किम् ? द्विरह्नो भुङ्क्ते । काल इति किम् ? द्विरध्वनि भुङ्क्ते ।

है० नवासुजर्थैः काले ॥ २।२।९६ ॥

सुचोऽर्थो वारो येषां तत्प्रत्ययान्तैर्युक्तात् कालेऽधिकरणे वर्तमानात् सप्तमी वा स्यात् ।

पा० कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे ॥ २।३।६४ ॥ सि० कौ० नं० ६२२ ।

कृत्वोऽर्थानां प्रयोगे कालवाचिन्यधिकरणे शेषे षष्ठी स्यात् । पंचकृत्वोऽह्नो भोजनम् । द्विरह्नो भोजनम् । शेषे किम् ? द्विरहन्यध्ययनम् ।

६१ कुशलाऽऽयुक्तेनाऽऽसेवायाम् ॥ १।३।१७८ ॥

कुशल आयुक्त इत्येताभ्यां युक्ते आधारे आसेवायां तात्पर्ये गम्यमाने ङ्योस्सुपो वा भवन्ति । कुशलो विद्याग्रहणे, कुशलो विद्याग्रहणस्य । आयुक्तस्तपश्चरणे, आयुक्तस्तपश्चरणस्य । अन्यत्र कुशलश्चित्रकर्मणि, न च करोति । आयुक्तो गौः शकटे, आकृष्य युक्त इत्यर्थः ।

है० कुशलाऽऽयुक्तेनाऽऽसेवायाम् ॥ २।२।९७ ॥

आभ्यां युक्तादाधारवाचिनः सप्तमी वा स्यात्, आसेवायां तात्पर्ये । कुशलो विद्यायां विद्याया वा । आयुक्तस्तपसि तपसो वा । आसेवायामिति किम् ? कुशलश्चित्रे, न तु करोति । आयुक्तो गौः शकटे आकृष्य युक्त इत्यर्थः ।

पा० आयुक्तकुशलाभ्यांचासेवायाम् ॥ २।३।४० ॥ सि० कौ० नं० ६३७ ।

आभ्यां योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः तात्पर्येऽर्थे । आयुक्तो व्यापारितः । आयुक्तः कुशलो वा हरिपूजने हरिपूजनस्य वा । आसेवायां किम् ? आयुक्तो गौः शकटे । ईषद्युक्त इत्यर्थः ।

६२ स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च ॥ १।३।१७९ ॥

स्वाम्यादिभिर्युक्तेऽप्रधाने वा ङ्योस्सुपो भवन्ति । गोषु स्वामी, गवां स्वामी । गोष्वीश्वरः, गवामीश्वरः । गोषु दायादः, गवां दायादः । गोषु साक्षी, गवां साक्षी । गोषु प्रतिभूः, गवां प्रतिभूः । गोषु प्रसूतः, गवां प्रसूतः ।

है० स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैः ॥ २।२।९८ ॥

एभिर्युक्तात् सप्तमी वा स्यात् । गोषु गवां वा स्वामी, ईश्वरः…… ।

पा० स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च ॥ २।३।३९ ॥ सि० कौ० नं० ६३६ ।

एभिः सप्तभिर्योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । षष्ठ्यामेव प्राप्तायां पाक्षिकसप्तम्यर्थं वचनं । गवां-गोषु वा स्वामी, प्रसूतः इत्यादि ।

६२ हेतौ हेत्वर्थैः सर्वाः प्रायः ॥ १।३।१९५ ॥

हेतुर्निमित्तं कारणमिति पर्यायाः, तदर्थैर्योगे हेतौ अप्रधाने प्रायेण सर्वा विभक्त्यो भवन्ति। धनेन हेतुना, धनाय हेतवे, धनाद् हेतोः, धनस्य हेतोः, धने हेतौ वसति। कं हेतुं, केन हेतुना, कस्मै हेतवे, कस्माद्धेतोः, कस्य हेतोः, कस्मिन् हेतौ तिष्ठति ? एवं निमित्तकारणप्रयोजनैरपि नेयम्। हेताविति किम् ? कस्य हेतुः। हेत्वर्थैरिति किम् ? केन वसति ? प्रायः इति प्रयोगानुसरणार्थम्।

है० हेत्वर्थैस्तृतीयाद्याः ॥ २।२।११८ ॥

हेतुर्निमित्तं तद्वाचिभिर्युक्तात् तृतीयाद्याः स्युः। धनेन हेतुना, धनाय-हेतवे, धनाद्धेतोः, धनस्य हेतोः धने हेतौ वा वसति। एवं निमित्तादिभिरपि।

है० सर्वादेः सर्वाः ॥ २।२।११९ ॥

हेत्वर्थैर्युक्तात् सर्वादेः सर्वा विभक्तयः स्युः। को हेतुः, कं हेतुम्, केन हेतुना, कस्मै हेतवे, कस्माद्धेतोः कस्य हेतोः, कस्मिन् हेतौ वा आयाति।

पा० षष्ठी हेतुप्रयोगे। २। ३। २६ ॥ सि० कौ० नं० ६०७।

हेतुशब्दप्रयोगे हेतौ द्योत्ये षष्ठी स्यात्। अन्नस्य हेतो वसति।

सर्वनाम्नस्तृतीया च। २। ३। २७ ॥ सि० कौ० नं ६०८।

सर्वनाम्नो हेतुशब्दस्य च प्रयोगे हेतौ द्योत्ये तृतीया स्यात् षष्ठी च केन हेतुना वसति। कस्य हेतोः।

निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम् (वा० १४७२)

किं निमित्तं वसति, केन निमित्तेन, कस्मै निमित्ताय इत्यादि। एवं किं कारणम्, को हेतुः, किं प्रयोजनम् इत्यादि। प्रायग्रहणादसर्वनाम्नः प्रथमा-द्वितीये न स्तः। ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः, ज्ञानाय निमित्ताय इत्यादि।